जैन-लॉ

लेखक
चम्पतराय जैन,
बैरिस्टर-एट्-लॉ, विद्यावारिधि.

प्रकाशक
श्री दिगम्बर जैन परिषद्, बिजनौर

१९२८ ई०

Published by
Shri Digambar Jain Parishad,
Bijnaor. U. P.

Printed by
A. Bose,
at The Indian Press, Ltd.
Benares-Branch.

विषय-सूची

प्रथम भाग

द्वितीय भाग

तृतीय भाग

ॐ

भूमिका हिन्दी अनुवाद की

जैन-लॉ की असली भूमिका अँगरेज़ी पुस्तक में लिखी जा चुकी है। जिसका अनुवाद इस पुस्तक में भी सम्मिलित है। हिन्दी अनुवाद के लिए साधारणत: किसी प्रथक् भूमिका की आवश्यकता न थी किन्तु कतिपय आवश्यक बातें हैं जिनका उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है। और इस कारण उनको इस भूमिका में लिखा जाता है—

(१) जैन-लॉ इस समय न्यायालयों में अमान्य है, परन्तु वर्तमान न्यायालयों की न्याय-नीति यही रही है कि यदि जैन-लॉ प्रथानि विश्वस्त रूप से प्रमाणित हो सके तो वह कार्य रूप में परिणत होनी चाहिए। यह विषय अँगरेज़ी भूमिका व पुस्तक के तृतीय भाग में स्पष्ट कर दिया गया है।

(२) पिछले पचास वर्ष की असन्तुष्टता के समय का चित्र भी तृतीय भाग में मिलेगा। जैन-लॉ के उपस्थित न होने के कारण प्राय: न्यायालयों के न्याय में भूल हुई है। कहीं कहीं रिवाज के रूप में जैन-लॉ के नियमों को भी माना गया है; अन्यथा हिन्दू-लॉ ही का अनुकरण कराया गया है। इस असन्तुष्टता के समय में यह असम्भव नहीं है कि कहीं कहीं विभिन्न प्रकार के व्यवहार प्रचलित हो गये हों।

(३) अब जैनियों का कर्त्तव्य है कि तन, मन, धन से चेष्टा करके अपने ही लॉ का अनुकरण करें और सरकार व न्यायालयों

में इसे प्रचलित करावें। इसमें बड़े भारी प्रयास की आवश्यकता पड़ेगी। अनायास ही यह प्रथा नहीं टूट सकेगी कि जैनी हिन्दू डिसूसेन्टर हैं और हिन्दू-लॉ के पाबन्द हैं जब तक वह कोई विशेष रिवाज साबित न कर दें। इसके सिवा कुछ ऐसे मनुष्य भी होंगे जो जैन-लॉ के प्रचार में अपनी हानि समझेंगे। और कुछ लोग तो योंही 'नवीन' आन्दोलन के विरुद्ध रहा करते हैं। ये गुलामी में आनन्द मानने के लिये प्रस्तुत होंगे। किन्तु इन दोनों प्रकार के महाशयों की संख्या कुछ अधिक नहीं होनी चाहिए। यद्यपि ऐसे सज्जन बहुत से निकलेंगे जिनके लिए यह विषय अधिक मनोरञ्जक न हो। यदि सर्व जैन जाति अर्थात् दिगम्बरी, श्वेताम्बरी और स्थानकवासी तीनों सम्प्रदाय मिलकर इस बात की चेष्टा करेंगे कि जैन-लॉ प्रचलित हो जाय तो कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता कि क्यों ऐसा न हो, यद्यपि प्रत्यक्षतया यह विषय आसानी से सिद्ध न होगा।

(४) यदि हम निम्नलिखित उपायों का अवलम्बन करें तो अनुमानतः शीघ्र सफल हो सकते हैं—

(क) प्रत्येक सम्प्रदाय को अपनी अपनी समाजों में प्रथमतः इस जैन-लॉ के पक्ष में प्रस्ताव पास कराने चाहिएँ।

(ख) फिर एक स्थान पर प्रत्येक समाज के नेताओं की एक सभा करके उन प्रस्तावों पर स्वीकृति प्रदान करनी चाहिए।

(ग) जो सज्जन किसी कारण से जैन-लॉ के नियमों को अपनी इच्छाओं के विरुद्ध पावें वे अपनी इच्छाओं की पूर्ति वसीयत के द्वारा कर सकते हैं। इस भाँति धर्म और जाति की स्वतन्त्रता भी बनी रहेगी और उनकी मानसिक इच्छा की पूर्ति भी हो जायगी।

(४) मुकदमे बाज़ी की सूरत में प्रत्येक सच्चे जैनी का जो संसार भ्रमण से भयभीत और मोक्ष का जिज्ञासु है यही कर्त्तव्य है कि वह सांसारिक धन सम्पत्ति के लिए अपनी आत्मा को मलिन न करे और दुर्गति से भयभीत रहे। यदि किसी स्थान पर कोई रीति यथार्थ में जैन-लॉ के लिखित नियम के विरुद्ध है तो स्पष्ट शब्दों में कहना चाहिए कि जैन-लॉ तो यही है जो पुस्तक में लिखा हुआ है किन्तु रिवाज इसके विरुद्ध है। और उसको प्रमाणित करना चाहिए।

इस पर भी यदि कोई सज्जन न मानें तो उनकी इच्छा। किन्तु ऐसी अवस्था में किसी जैनी को उनकी सहायता नहीं करनी चाहिए। न उनको असत्य के पक्ष में कोई साक्षी ही मिलना चाहिए। वरन् जो जैनी साक्षी में उपस्थित हो उसको साफ़ साफ़ और सत्य सत्य हाल प्रकट कर देना चाहिए। और सत्य बात को नहीं छुपाना चाहिए। जब उभय पक्ष के गवाह स्पष्टतया सत्य बात का पक्ष लेंगे तो फिर किसी पक्ष की हठधर्मी नहीं चलेगी। विचार होता है कि यदि इस प्रकार कार्यवाही की जायगी तो जैन-लॉ की स्वतन्त्रता की फिर एक बार स्थिति हो जायगी।

(५) इस जैन-लॉ में वर्तमान जैन शास्त्रों का संग्रह, बिना इस विचार के कि ये दिगम्बरी वा श्वेताम्बरी सम्प्रदाय के हैं, किया गया है। यह हर्ष की बात है कि उनमें परस्पर मतभेद नहीं है। इसलिए यह व्यवस्था (कानून) सब ही सम्प्रदायवालों को मान्य हो सकती है। और किसी को इसमें विरोध नहीं होना चाहिए।

(६) जैन-लॉ और हिन्दू-लॉ (मिताक्षरा) में विशेष भिन्नता यह है कि हिन्दू-लॉ में सम्मिलित-कुल में ज्वाइंटइस्टेट

(joint estate) और सरवाईवरशिप (survivorship) का नियम है। जैन-लॉ में ज्वाइन्ट टेनेन्सी (joint tenancy) है। इनमें भेद यह है कि ज्वाइन्ट इस्टेट में यदि कोई सहभागी मर जाय तो उसके उत्तराधिकारी दायाद नहीं होते हैं; अवशिष्ट भागियों की ही जायदाद रहती है, और हिस्सों का तख़मीना बटवारे के समय तक नहीं हो सकता है। परन्तु ज्वाईन्ट टेनेन्सी में (survivorship) सरवाईवर शिप सर्वथा नहीं होता। एक सहभागी के मर जाने पर उसके दायाद उसके भाग के अधिकारी हो जाते हैं। इसलिए हिन्दू-लॉ में ख़ान्दान मुश्तरिका मिताक्षरा की दशा में मृत भ्राता की विधवा की कोई हैसियत नहीं होती है और वह केवल भोजन-वस्त्र पा सकती है। जैन-लॉ में वह मृत पुरुष के भाग की अधिकारिणी होगी चाहे उसकी विभक्ति हो चुकी हो वा नहीं हो चुकी हो। पुत्र भी जैन-लॉ के अनुसार केवल पैतामहिक सम्पत्ति में पिता का सहभागी होता है और अपना भाग विभक्त कराकर प्रथक् करा सकता है। किन्तु पिता की मृत्यु के पश्चात् वह उसके भाग को माता की उपस्थिति में नहीं पा सकता; माता की मृत्यु के पश्चात् उस भाग को पावेगा। अस्तु हिन्दू-लॉ में स्त्री का कोई अधिकार नहीं है। पति मरा और वह भिखारिणी हो गई। पुत्र चाहे अच्छा निकले चाहे बुरा माता को हर समय उसके समक्ष कौड़ी कौड़ी के लिए हाथ पसारना और गिड़गिड़ाना पड़ता है। बहुतेरे नये नवाब भोगविलास और विषय-सुख में घर का धन नष्ट कर देते हैं। वेश्यायें उनकी धन-सम्पत्ति द्वारा आनन्द करती हैं और उसको जलैत्र व्यय करती हैं। माता और पत्नी घर में दो पैसे की भाजी को अकिंचन बैठी रहती हैं। यदि भाई भतीजों के हाथ धन लगा तो वे काहे को मृतक की विधवा की चिन्ता करेंगे और यदि करेंगे भी तो टुकड़ों पर बसर करायेंगे।

यदि सौभाग्यवश पति कहीं पृथक् दशा में मरा तो विधवा को सम्पत्ति मिली किन्तु वह भी हीन हयाती रूप में। कुछ भी उसने धर्म कार्य्य वा आवश्यकता के निमित्त व्यय किया और मुक़दमा-छिड़ा। रोज़ इसी भाँति के सहस्रों मुक़दमे न्यायालयो में उपस्थित रहते हैं जिनसे कुटुम्ब व्यर्थ ही नष्ट होते हैं और परस्पर शत्रुता बँधती है। जैन-लॉ में इस प्रकार के मुक़दमे ही नहीं हो सकते।

पुत्र की उपस्थिति में भी विधवा का मृत पति की सम्पत्ति को स्वामिनी की हैसियत से पाना वास्तव में अत्यन्त लाभदायक है। इससे पुत्र को व्यापार करने का साहस होता है और वह आलस्य और जड़ता से बचता है। इसके सिवा उसको सदाचारी और आज्ञाकारी बनना पड़ता है। जितना धन विषय सुख और हराम-खोरी में नये नवाब व्यय कर देते हैं; यदि जैन-ला के अनुसार सम्पत्ति उनको न मिली होती तो वह सर्वथा नष्ट होने से बच जाता। यही कारण है कि जैनियों में सदाचारी व्यक्तियों की संख्या अन्य जातियों की अपेक्षा अधिकतर पाई जाती है। यह विचार, कि पुत्र के न होते हुए विधवा धन अपनी पुत्री और उसके पश्चात नाती अर्थात् पुत्री के पुत्र को दे देगी, व्यर्थ है। हिन्दू-ला में भी यदि पुत्र नहीं है और सम्पत्ति विभाज्य है तो विधवा के पश्चात् पुत्री और उसके पश्चात् नाती ही पाता है। पति के कुटुम्ब के लोग नहीं पाते हैं वरन् हिन्दू-लॉ के अनुसार तो नाती ऐसी विधवा की सम्पत्ति को पावेहीगा क्योंकि विधवा पूर्ण स्वामिनी नहीं होती है वरन् केवल यावज्जीवन अधिकार रखती है। यदि वह इच्छा भी करे तो भी नाती को अनधिकृत करके पति के भाई भतीजों को नहीं दे सकती। इसके विरुद्ध जैन-लॉ में विधवा सम्पत्ति की पूर्ण स्वामिनी होती है। पुत्री या नाती का कोई अधिकार नहीं होता। अतः यदि उसके

पति के भाई भतीजे उसको प्रसन्न रक्खें और उसका आदर और विनय करें तो वह उनको सबका सब धन दे सकती है।

इस कारण जैन-लॉ की विशिष्टता सूर्यवत् कान्तियुक्त है। इसमें विरोध करना मूर्खता का कारण है। यह भी ज्ञात रहे कि यदि कहीं ऐसा प्रकरण उपस्थित हो कि पुरुष को अपनी स्त्री पर विश्वास नहीं है तो उसका भी प्रबन्ध जैन-लॉ में मिलता है। ऐसे अवसर पर वसीयत के द्वारा कार्य करना चाहिए और स्वेच्छानुकूल अपने धन का प्रबन्ध कर देना चाहिए। यदि कोई स्त्री दुराचारिणी है तो वह अधिकारिणी नहीं हो सकती है। यह स्पष्टतया जैन-लॉ में दिया हुआ है। मेरे विचार में यदि ध्यान से देखा जायगा तो सम्पत्ति के नष्ट होने का भय नये नवाबों से इतना अधिक है कि जैन-लॉ के रचयिताओं से आक्रोश का अवसर नहीं रहता है।

अस्तु जो सज्जन अपने धर्म्म से प्रेम रखते हैं और उसके स्वातन्त्र्य को नष्ट करना नहीं चाहते हैं और जिनको जैनी होने का गौरव है उनके लिये यही आवश्यक है कि वे अपनी शक्ति भर चेष्टा इस बात की करें कि विरुद्ध तथा हानिकारक अजैन क़ानूनों की दासता से जैन-लॉ को मुक्त करा दें। गुलामी में आनन्द माननेवाले सज्जनों से भी मेरा अनुरोध है कि वे आँखें खोलकर जैन-लॉ के लाभों को समझें और व्यर्थ की बातें बनाने वा क़लम चलाने से निवृत्त होवें।

सी० आर० जैन

भूमिका

जैन-लॉ एक स्वतन्त्र विभाग दाय भाग (jurisprudence) के सिद्धान्त का है। इसके आदि रचयिता महाराजा भरत चक्रवर्ती हैं जो प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् आदि नाथ स्वामी (ऋषभदेवजी) के बड़े पुत्र थे* ।

यह सब का सब एक-दम रचा गया था। इसलिए इसमें वह चिह्न नहीं पाये जाते हैं जो न्यायाधीशावलम्बित (judge-made = जज मेड) नीति में मिला करते हैं, चाहे पश्चात् सामाजिक आवश्यकताओं एवं मानवी सम्बन्ध के अनुसार उसमें किसी किसी समय पर कुछ थोड़े बहुत ऐसे परिवर्त्तनों का हो जाना असम्भव नहीं है जो उसके वास्तविक सिद्धान्त के अविरुद्ध हों। जैन नीति विज्ञान उपासकाध्ययन शास्त्र का अङ्ग था जो अब विलीन हो गया है। वर्तमान जैन-लॉ की आधारभूत अब केवल निम्नलिखित पुस्तकें हैं—

१—भद्रबाहु संहिता, जो श्री भद्रबाहु स्वामी श्रुतकेवली के समय का जिन्हें लगभग २३०० वर्ष हुए न होकर बहुत काल पश्चात् का संग्रह किया हुआ ग्रन्थ जान पड़ता है तिस पर भी यह कई शताब्दियों का पुराना है। इसकी रचना और प्रकाश सम्भवत: संवत् १६५७–१६६५ विक्रमी अथवा १६०१–१६०६ ई० के अन्तर में होना प्रतीत होता है। यह पुस्तक उपासकाध्ययन के ऊपर निर्भर की गई है। इसके रचयिता का नाम विदित नहीं है।

---

* ई० जि० सि० ५३-५५ ।

२—अर्हन्नीति—यह श्वेताम्बरी ग्रन्थ है। इसके सम्पादक का नाम और समय इसमें नहीं दिया गया है किन्तु यह कुछ अधिक कालीन ज्ञात नहीं होता है। परन्तु इसके अन्तिम श्लोक में सम्पादक ने स्वयं यह माना है कि जैसा उसने सुना है वैसा लिपि बद्ध किया।

३—वर्धमान नीति—इसका सम्पादन श्री अमितगति आचार्य्य ने लगभग संवत् १०६८ वि० या १०११ ई० में किया है। यह राजा मुञ्ज के समय में हुए थे। इसके और भद्रबाहु संहिता के कुछ श्लोक सर्वथा एक ही हैं। जैसे ३०-३४ जो भद्रबाहु संहिता में नम्बर ५५-५९ पर उल्लिखित हैं। इससे विदित होता है कि दोनों पुस्तकों के रचने में किसी प्राचीन ग्रन्थ की सहायता ली गई है। इससे इस बात का भी पता चलता है कि भद्रबाहु-संहिता यद्यपि वह लगभग ३२५ वर्ष की लिखी है तो भी वह एक अधिक प्राचीन ग्रन्थ के आधार पर लिखी गई है जो सम्भवतः ईसवी सन् के कई शताब्दि पूर्व के सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य्य के गुरु स्वामी भद्रबाहु के समय में लिखी गई होगी, जैसा उसके नाम से विदित होता है। क्योंकि इतने बड़े ग्रन्थ में वर्द्धमान नीति जैसी छोटी सी पुस्तक की प्रतिलिपि किया जाना समुचित प्रतीत नहीं होता है।

४—इन्द्रनन्दी जिन संहिता—इसके रचयिता वसुनन्दि इन्द्रनन्दि स्वामी हैं। यह पुस्तक भी उपासकाध्ययन अंग पर निर्भर है। विदित रहे कि उपासकाध्ययन अंग* लोप हो गया है और अब केवल इसके कुछ उपाङ्ग अवशेष हैं।

५—त्रिवर्णाचार—संवत् १६६७ वि० के मुताबिक १६११ ई० की बनी हुई पुस्तक है। इसके रचयिता भट्टारक सोमसेन स्वामी

---

* इस अंग के विषयों की सूची और वर्णन के निमित्त रा० ब० बा० जुगमन्दिर लाल जैनी की किताब आउट लाइन्ज़ आफ़ जैनिज़्म देखनी चाहिए।

हैं जो मूल संघ की शाखा पुष्कर गच्छ के पट्टाधीश थे। इनका ठीक स्थान विदित नहीं है।

६—श्रीआदिपुराणजी—यह ग्रन्थ भगवज्जिनसेनाचार्य्य कृत है जो ईसवी सन् की नवीं शताब्दी में हुए हैं जिसको अब लगभग १२०० वर्ष हुए हैं।

वर्तमान काल में बस इतने ही ग्रन्थों का पता चला है जिनमें नीति का मुख्यत: वर्णन है। परन्तु इनमें से किसी में भी सम्पूर्ण क़ानून का वर्णन नहीं मिलता है। तो भी मेरा विचार है कि जो कुछ अङ्ग उपासकाध्ययन का लोप होने से बच रहा है वह सब क़ानून की कुल आवश्यकीय बातों के लिए यथेष्ट हो सकता है। चाहे उसका भाव समझने में प्रथम कुछ कठिनाइयों का सामना पड़े। गत समय में निरन्तर दुर्घटनाओं एवं बाह्य दुराचारों के कारण जैन मत का प्रकाश रसातल अथवा अन्धकूप में छिप गया। जब अँगरेज़ आये तो जैनियों ने अपने शास्त्रों को छिपाया व सरकारी न्यायालयों में पेश करने का विरोध किया। एक सीमा तक उनका यह कृत्य उचित था क्योंकि न्यायालयों में किसी धर्म के भी शास्त्रों का कोई मुख्य सम्मान नहीं होता। कभी कभी न्यायाधीश और प्राय: अन्य कर्मचारी शास्त्रों के पृष्ठों के लौटने में मुँह का थूक लगाते हैं जिससे प्रत्येक धार्मिक हृदय को दु:ख होता है। परन्तु इस दु:ख का उपाय यह नहीं है कि शास्त्र पेश न किये जावें। क्योंकि प्रत्येक कार्य समय के परिवर्तनों का विचार करते हुए अर्थात् जैन सिद्धान्त की भाषा में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से, होना चाहिए।

जैनियों के शास्त्रों को न्यायालयों में प्रविष्ट न होने देने का परिणाम यह हुआ कि अब न्यायालयों ने यह निर्णय कर लिया है

कि जैनियों का कोई नीतिशास्त्र ही नहीं है (शिवसिंह राय बनाम दाखो १ इलाहाबाद ६८८ मुख्यत: ७०० पृष्ठ और हरनामप्रसाद ब० मण्डलदास २७ कलकत्ता ३७९ पृ०)। यद्यपि सन् १८७३ ई० में कुछ जैन नीति-शास्त्रों के नाम न्यायालयों में प्रकट हो गये थे (भगवानदास तेजमल ब० राजमल १०, बम्बई हाईकोर्ट रिपोर्ट २४९, २५५-२५६)। और इससे भी पूर्व सन् १८३३ ई० में जैन नीति-शास्त्रों का उल्लेख आया है (गोविन्दनाथ राय ब० गुलालचन्द ५ स्लेक् रिपोर्ट सदर दीवानी अदालत कलकत्ता पृष्ठ २७६)। परन्तु न्यायालयों का इसमें कुछ अपराध नहीं हो सकता है। क्योंकि न्यायालयों ने तो प्रत्येक अवसर पर इस बात की कोशिश की कि जैनियों की नीति या कम से कम उनके रिवाजों की जाँच की जाय ताकि उन्हीं के अनुसार उनके झगड़ों का निर्णय किया जावे। सर ई० मौनटेगो स्मिथ महोदय ने शिवसिंह राय ब० दाखो (१ इलाहाबाद ६८८ P. C.) के मुक़दमे में प्रिवीकौंसिल का निर्णय सुनाते समय व्याख्या की थी कि "यह घटना वास्तव में बड़ी आश्चर्यजनक होती यदि कोई न्यायालय जैनियों की जैसी बड़ी और धनिक समाजों को उनके यथेष्ट साक्षी द्वारा प्रमाणित क़ानून और रिवाजों की पाबंदी से रोकती, अगर यह पर्याप्त साक्षियों से प्रमाणित हो सकें।" प्रेमचन्द पेपारा ब० हुलासचन्द पेपारा १२ वीकली रिपोर्टर पृ० ४९४ में भी जैन नीतिशास्त्रों का उल्लेख आया है। अनुमानत: न्यायालयों के पुराने नियमानुसार पण्डितों से शास्त्रों के अनुकूल व्यवस्था ली गई होगी। यह मुक़दमा सन् १८६९ ई० में फ़ैसल हुआ था।

हिन्दुओं को भी ऐसा ही भय अपने शास्त्रों की मानहानि का था जैसा जैनियों को, परन्तु उन्होंने बुद्धिमानी से काम लिया। जैनियों

की भाँति उन्होंने अपने धर्म-शास्त्रों को नहीं छिपाया और उनके छपने व छपाने में बाधक नहीं हुए। जैनियों की महासभा ने बारम्बार यही प्रस्ताव पास किया कि छापा धर्म विरुद्ध है। इसका परिणाम यह हुआ कि अब तक लोगों को यह प्रकट नहीं हुआ कि जैन-धर्म वास्तव में क्या है और कब से प्रारम्भ हुआ और इसकी शिक्षा क्या है; कौन कौन से नीति और नियम जैनियों को मान्य हैं तथा उनकी क़ानूनी पुस्तकें वास्तव में क्या क्या हैं। रा० ब० बा० जुगमन्दर लाल जैनी बैरिस्टर-एट-ला भूत पूर्व चीफ़ जज हाई-कोर्ट इन्दौर ने प्रथम बार इस कठिनाई का अनुभव करके जैन-लॉ नामक एक पुस्तक सन् १९०८ ई० में तैयार की जिसको स्वर्गीय कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन आरा-निवासी ने १९१६ ई० में प्रकाशित कराया। परन्तु यह भी सुयोग्य सम्पादक को अधिक अवकाश न मिलने एवं जैन समाज के प्रमाद के कारण अपूर्ण ही रही और इसके विद्वान् रचयिता ने विद्यमान नीति-पुस्तकों में से कुछ के संग्रह करने और उनमें से एक के अनुवाद करने पर ही संतोष किया। किन्तु इसके पश्चात् उन्होंने जैन-मित्र-मण्डल देहली की प्रार्थना पर वर्धमान नीति तथा इन्द्र नन्दी जिन संहिता का भी अनुवाद कर दिया है। इन अनुवादों का उपयोग मैंने इस ग्रन्थ में अपने इच्छानुसार किया है जिसके लिए अनुवादक महोदय ने मुझे मैत्री-भाव से सहर्ष आज्ञा प्रदान की। मगर तो भी जैनियों ने कोई विशेष ध्यान इस विषय की ओर नहीं दिया। हाँ, सन् १९२१ ई० में जब डाक्टर गौड़ का हिन्दू-कोड प्रकाशित हुआ और उसमें उन्होंने जैनियों को धर्म-विमुख हिन्दू (Hindu dissenters) लिखा उस समय जैनियों ने उसका कुछ विरोध किया और जैन-लॉ कमेटी के नाम से अँगरेज़ी-भाषा-विज्ञ वकीलों, शास्त्रज्ञ पण्डितों

और अनुभवी विद्वानों की एक समिति स्थापित हुई जिसने प्रारम्भ में अच्छा काम किया परन्तु अन्ततः अनेक कारणों, जैसे दूर देशान्तरों से सदस्यों की एकत्रता कष्टसाध्य होना इत्यादि, के उपस्थित होने से यह कमेटी भी अपने उद्देश्य को पूरा न कर सकी। जब यह दशा जैन-समाज की वर्तमान समय में है तो इसमें क्या आश्चर्य है कि १८६७ ई० में कलकत्ता हाईकोर्ट ने जैनियों पर हिन्दू-लॉ को लागू कर दिया (महावीरप्रसाद बनाम मुसम्मात कुन्दन कुँवर ८ वीक्ली रिपोर्टर पृ० ११६)। छोटेलाल ब० छुन्नूलाल (४ कलकत्ता पृ० ७४४); बचेबी ब० मक्खनलाल (३ इलाहाबाद पृ० ५५); पेरिया अम्मानी ब० कृष्णा स्वामी (१६ मदरास १८२) व मण्डित कुमार ब० फूलचन्द (२ कलकत्ता वी० नोट्स पृ० १५४) ये सब मुक़दमे हिन्दू-लॉ के अनुसार हुए और ग़लत निर्णय हुए क्योंकि इनमें जैन रिवाज (नीति) प्रमाणित नहीं पाया गया और जो मुक़दमे सही भी फ़ैसल हुए* वह भी वास्तव में ग़लत ही हुए। क्योंकि उनका निर्णय मुख्य जैन रिवाजों को आधी-

* उदाहरणार्थ देखो—

शिवसिंह राय ब० दाखो १ इला० ६८८ प्री० कौ०; अम्माबाई ब० गोविन्द २३ बम्बई २५७; लक्ष्मीचन्द बनाम गट्टोबाई ८ इला० ३१९; मानकचन्द गोलेचा ब० जगत सेठानी प्राण कुमारी बीबी १७ कलकत्ता ५१८; मोहना शाह ब० दीपाशाह पञ्जाब रिकार्ड १८०२ न० १५; शम्भूनाथ ब० ज्ञानचन्द १६ इला० ३७९ (जिसका एक देश सही फ़ैसला हुआ); हरनाभप्रसाद ब० मण्डिलदास २७ कल० ३७९; मनोहरलाल ब० बनारसीदास २९ इला० ४९५; अशरफी कुँअर ब० रूपचन्द ३० इला० १९७; रूपचन्द ब० जम्बू प्रसाद ३२ इला० २४७ प्री० कौ०; रूपभ ब० चुन्नीलाल अम्बूसेठ १६ बम्बई ३४७; मु० सोना ब० मु० इन्द्रानी बहू ७८ इंडियन केसेज (नागपुर) ४६१; मौजीलाल ब० गोरी बहू सेकेण्ड अपील न० ४१६ (१८९७ नागपुर जिसका हवाला इंडियन केसेज़ ७८ के पृ० ४६१ में है)।

नता के साथ (यदि ऐसे कोई रिवाज हों) मिताक्षरा क़ानून से हुआ न कि जैन-लॉ के अनुसार जैसा कि होना चाहिए था।

इन मुक़दमों के पश्चात् जो और मुक़दमे हुए उनमें भी प्राय: यही दशा रही। परन्तु तो भी सरकार का उद्देश्य और न्यायालयों का कर्तव्य यही है कि वह जैन-लॉ या जैन रिवाजों के अनुसार ही जैनियों के मुक़दमों का निर्णय करें। यह कोड इसी अभिलाषा से तय्यार किया गया है कि जैन-लॉ फिर स्वतन्त्रतापूर्वक एक बार प्रकाश में आकर कार्य मे परिणत हो सके तथा जैनी अपने ही क़ानून के पाबन्द रहकर अपने धर्म का समुचित पालन कर सकें।

यह प्रश्न कि हिन्दू-लॉ की पाबन्दी में जैनियों का क्या बिगड़ता है उत्पन्न नहीं होता है न होना ही चाहिए*। इस प्रकार तो

* इस बात के दिखाने के लिए कि यदि जैनी अपने क़ानून की पाबन्दी नहीं करने पायेंगे तो किस प्रकार की हानियां उपस्थित होंगी एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। जैनियों में पुत्र का अधिकार माता के आधीन रक्खा गया है जिसकी उपस्थित में वह विरसा (दाय) नहीं पाता है। स्त्री अपने पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति की पूर्ण स्वामिनी होती है। वह स्वतन्त्र होती है कि उसे चाहे जिसको दे डाले। उसको कोई रोक नहीं सकता, सिवाय इसके कि उसको छोटे बच्चों के पालन-पोषण का ध्यान अवश्य रखना होता है। इस उत्तम नियम का यह प्रभाव है कि पुत्र को सदाचार, शील और आज्ञापालन में आदर्श बनना पड़ता है ताकि माता का उस पर प्रेम बना रहे। पुत्र को स्वतन्त्र स्वामित्व माता की उपस्थिति में देने का यह परिणाम होता है कि माता की आज्ञा निष्फल हो जाती है। जैनियों में दोषियों की संख्या कम होना जैसा कि अन्य जातियों की अपेक्षा वर्तमान में है जैन-क़ानून बनानेवालों की बुद्धिमत्ता का ज्वलन्त उदाहरण है। यदि जैनियों पर वह क़ानून लागू किया जाता है जिसका प्रभाव माता की ज़बान को बंद कर देना या उसकी आज्ञा को निष्फल बना देना है तो ऐसी दशा में उनसे इतने उत्तम सदाचार की आशा नहीं की जा सकती।

हम यह भी पूछ सकते हैं कि यदि मुसलमानों और ईसाइयों के मुक़दमे भी हिन्दू नीति के अनुसार फ़ैसल कर दिये जावें तो क्या हानि है। इस प्रकार किसी अन्य मत की नीति की पाबन्दी से शायद कोई व्यक्ति सांसारिक विषयों में कोई विशेष हानि न दिखा सके। परन्तु स्वतन्त्रता के इच्छुकों को स्वयं ही विदित है कि प्रत्येक रीति क्रम (system) एक ऐसे दृष्टिकोण पर निर्भर होता है कि जिसमें किसी दूसरी रीति क्रम (system) के प्रवेश कर देने से सामाजिक विचार और आचार की स्वतन्त्रता का नाश हो जाता है और व्यर्थ हानि अथवा गड़बड़ी के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं होता। इतना कह देना भी यथेष्ट न होगा कि रिवाजों के रूप में ही जैन-नीति के उद्देश्यों का पूर्णतया पालन हो सकता है और इसलिए अब तक जैसा होता रहा है वैसे ही होते रहने दो। क्योंकि प्रत्येक क़ानून का जाननेवाला जानता है कि किसी विशेष रिवाज का प्रमाणित करना कितना कठिन कार्य है। सैकड़ों साक्षी और उदाहरणों द्वारा इसके प्रमाणित करने की आवश्यकता होती है जो साधारण मुक़दमेवालों की शक्ति एवं छोटे मुक़दमों की हैसियत से बाहर है। और फिर भी अन्याय का पूरा भय रहता है जैसा कि एक से अधिक अवसरों पर हो चुका है। समाज भी भयभीत दशा में रहता है कि नहीं मालूम मौखिक साक्षियों द्वारा प्रमाणित होनेवाले रिवाज-विशेष पर न्यायालय में क्या निर्णय हो जाय। यदि कहीं फ़ैसला उलटा पलटा हो गया तो अशांति और भी बढ़ जाती है, क्योंकि यह (निर्णय) वास्तविक जाति रिवाज के प्रतिकूल हुआ। किसी साधारण मुक़दमे में अन्याय हो जाना यद्यपि दोषयुक्त है किन्तु उससे अधिक हानि की सम्भावना नहीं है क्योंकि उसका प्रभाव केवल विपक्षियों पर ही पड़ता है। परन्तु साधारण रिवाजों

के सम्बन्ध में ऐसा होने से उसका प्रभाव सर्व समाज पर पड़ता है। इसी प्रकार की और भी हानियाँ है जो उसी समय दूर हो सकेंगी जब जैन-लॉ स्वतन्त्रता को प्राप्त हो जायगा।

कुछ व्यक्तियों का विचार है कि जैन-धर्म हिन्दू-धर्म की शाखा है। और जैन-नीति भी वही है जो हिन्दुओं की नीति है। यह लोग जैनियों को धर्म-विमुख हिन्दू (Hindu dissenters) मानते हैं। परन्तु वास्तविकता सर्वथा इसके विपरीत है। यह सत्य है कि हिन्दू-लॉ और जैन-लॉ में अधिक समानता है तो भी यदि आर्यों का स्वतन्त्र कानून कोई हो सकता है तो जैन-लॉ ही हो सकता है। कारण कि हिन्दू-धर्म जैन-धर्म का स्रोत किसी प्रकार से नहीं हो सकता वरन् इसके विरुद्ध जैन-धर्म हिन्दू-धर्म का सम्भवतः मूल हो सकता है। क्योंकि हिन्दू-धर्म और जैन-धर्म में ठीक वही सम्बन्ध पाया जाता है जो विज्ञान और काव्य-रचना में हुआ करता है। एक वैज्ञानिक है दूसरा अलङ्कारयुक्त। इसमें से पहिला कौन हो सकता है और पिछला कौन इसका उत्तर टामस कारलाइल के कथनानुसार यों दिया जा सकता है कि विज्ञान (science) का सद्भाव काव्य-रचना (allegory) से पूर्व होता है। भावार्थ, पहिले विज्ञान होता है और पीछे काव्य-रचना*।

जैनी लोग धर्म-विमुख हिन्दू (Hindu dissenters) नहीं हो सकते हैं। जब एक धर्म दूसरे धर्म से पृथक् होकर निक-

* देखा रचयिता की बनाई हुई निम्न पुस्तकें—

१ की ऑफ़ नॉलेज (Key of Knowledge) २ प्रैक्टिल पाथ (Practical Path), ३ कोनफ्लोएन्स आफ ओपोज़िट् स (Confluence of Opposites ch. IX) और हिन्दू उदासीन साधु शङ्कराचार्य की रचित आत्मरामायण तथा हिन्दू पण्डित के० नारायण आइर की रचित परमनेन्ट हिस्ट्री आफ़ भारतवर्ष (Permanent History of Bharatvarsha)।

लता है तो उनके अधिकांश सिद्धान्त एक ही होते हैं। अन्तर केवल दो चार बातों का होता है। अब यदि हिन्दू मत को अलंकार-युक्त न मानकर जैन मत से उसकी तुलना करें तो बहुत से अन्तर मिलते हैं। समानता केवल थोड़ी सी ही बातों में है, सिवाय उन बातों के जो लौकिक व्यवहार से सम्बन्ध रखती हैं। यहाँ तक कि संस्कार भी जो एक से मालूम पड़ते हैं वास्तव में उद्देश्य की अपेक्षा भिन्न हैं यदि उन्हें ध्यानपूर्वक देखा जाय। जैनी जगत् को अनादि मानते हैं; हिन्दू ईश्वर-कृत। जैन मत में पूजा किसी अनादि निधन स्वयंसिद्ध परमात्मा की नहीं होती है वरन् उन महान् पुरुषों की होती है जिन्होंने अपनी उद्देश्य सिद्धि प्राप्त कर ली है और स्वयं परमात्मा बन गये हैं। हिन्दू मत में जगत्-स्वामी जगत्-जनक एक ईश्वर की पूजा होती है। पूजा का भाव भी हिन्दू मत में वह नहीं है जो जैन मत में है। जैन मत की पूजा आदर्श पूजा (idealatory) है। उसमें देवता को भोग लगाना आदि क्रियाएँ नहीं होती हैं, न देवता से कोई प्रार्थना की जाती है कि हमको अमुक वस्तु प्रदान करो। हिन्दू मत मे देवता के प्रसन्न करने से अर्थ-सिद्धि मानी गई है। शास्त्रों के सम्बन्ध मे तो जैन-धर्म और हिन्दू-धर्म में आकाश पाताल का अन्तर है। हिन्दुओं का एक भी शास्त्र जैनियों को मान्य नहीं है और न हिन्दू ही जैनियों के किसी शास्त्र को मानते हैं। लेख भी शास्त्रों के विभिन्न हैं। चारों वेद और अठारह पुराणों का जो हिन्दू मत में प्रचलित हैं कोई अंश भी जैन मत के शास्त्रों में सम्मिलित नहीं है, न जैन मत के पूज्य शास्त्रों का कोई अंग स्पष्ट अथवा प्रकट रीति से हिन्दू शास्त्रों में पाया जाता है। जिन क्रियाओं मे हिन्दू और जैनियों की समानता पाई जाती है वह केवल सामाजिक क्रिया है, उनका भाव

भी जहाँ कहीं वह धार्मिक सम्बन्ध रखता है एक दूसरे के विपरीत है। साधारण सभ्यता सम्बन्धी समानता विविध जातियों में जो एक साथ रहती सहती चली आई हैं, हुआ ही करती है। मुख्यतः ऐसी दशा में जब कि उनमें विवाहादिक सम्बन्ध भी होते रहें जैसे हिन्दू और जैनियों में होते रहे हैं। कुछ सामाजिक व्यवहार जैनियों, हिन्दुओं और मुसलमान इत्यादि में एक से पाये जाते हैं। परन्तु इनका कोई मुख्य प्रभाव धर्म-सम्बन्धी विषयों पर नहीं होता है। इसके अतिरिक्त राजाओं और बड़े पुरुषों की देखा देखी भी बहुत सी बातें एक जाति की दूसरी जाति में ले ली जाती हैं। आपत्ति-काल में धर्म और प्राणरक्षा के निमित्त भी धार्मिक क्रियाओं में बहुत कुछ परिवर्तन करना पड़ता है। गत समय में भारतवर्ष में हिन्दुओं ने जैनियों पर बहुत से अत्याचार किये। जैन श्रावकों और साधुओं को घोर दुःख पहुँचाये और उनका प्राणघात तक किया। ऐसी दशा में जैनियों ने अपने रक्षार्थ ब्राह्मणीय लोभ की शरण ली और सामाजिक विषयों में ब्राह्मणों को पूजा पाठ के निमित्त बुलाना आरम्भ किया[1]। यह रिवाज अभी तक प्रचलित है और अब

---

१ स्वयं भद्रबाहु संहिता के एक दूसरे अप्रकाशित भाग का निम्न श्लोक इस विषय को स्पष्टतया दर्शाता है—

जँ किंचिव उप्पादम् अण्णं विग्धं च तम्थणाम्मेई।

दक्खिण देज सुवण्णं गावीं भूमिउ विप्प देवाणं ॥४॥ ११२।

भावार्थ—जो कोई भी आपत्ति या कष्ट आ पड़े तो उस समय ब्राह्मण देवताओं को सुवर्ण, गऊ और पृथ्वी दान देना चाहिए। इस प्रकार उसकी शांति हो जाती है।

नोट—जैनियों पर हिन्दुओं के अत्याचार का वर्णन बहुत स्थानों पर आया है। निम्नांकित लेख एक हिन्दू मन्दिर के स्तंभ पर है जो हिन्दुओं की जैनियों के प्रति गत समय की स्पर्धा और अन्याय का ज्वलन्त उदाहरण है (देखो

भी विवाहादिक संस्कारों में ब्राह्मणों से काम लेते हैं। परन्तु धर्म सम्बन्धी विषय नितान्त पृथक् हैं। उनसे कोई प्रयोजन नहीं है। अनभिज्ञ तथा अर्धविज्ञ पुरुषों ने आरम्भ में जैन-धर्म को बौद्ध-धर्म की शाखा समझ लिया था किन्तु अब इस भ्रम में कदाचित् ही कोई पड़ता हो। अब इसको हिन्दू मत की शाखा सिद्ध करने को कुछ बुद्धिमान् उतारू हुए हैं। सो यह भ्रम भी जब उच्च कोटि के बुद्धिमान इस ओर ध्यान देंगे शीघ्र दूर हो जायगा।

नीति के सम्बन्ध में भी जैनियों और हिन्दुओं में बड़े बड़े अन्तर हैं। जैनियों में दत्तक पारलौकिक सुख प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं लिया जाता[२]। पुत्र के होने न होने से कोई मनुष्य पुण्य

Studies in South Indian Jainism part II pages 34–35):–
"सरमैल्रम के स्तम्भ-लेख सम्बन्धी विवरण से स्पष्टतया प्रकट है कि हिन्दुओं ने जैनियों पर किस किस प्रकार अन्याय किये जिससे उस देश में अन्ततः जैन-धर्म का अन्त हो गया। यह स्तम्भ-लेख वास्तव में शिवोपासक हिन्दुओं का ही है। संस्कृत भाषा में मल्लिक अर्जुन के मन्दिर के मण्डप के दायें और बायें तरफ़ स्तम्भों पर यह एक लम्बा लेख है जिसमें उल्लिखित है कि सं० १४३३ प्रजोत्पत्ति माघ बदी १४ सोमवार के दिन सन्त के पुत्र राजा लिङ्ग ने, जो भक्त्योन्मत्त शिवोपासक था, सरमैल्रम के मन्दिर में बहुत सी भेंट चढ़ाई। इसमें इस राजा का यह कार्य भी सराहा गया है कि उसने कतिपय श्वेताम्बर जैनियों के सिर काटे। यह लेख दो प्रकार से विचारणीय है। प्रथम यह कि इससे प्रकट होता है कि आंध्र देश में ईसा की ग्यारहवीं शताब्दि के प्रथम चतुर्थ भाग में शिवमतानुयायी जैनियों के साथ शत्रुता रखते थे। यह शत्रुता सोलहवीं शताब्दि के प्रथम चतुर्थ भाग तक जानी दुश्मनी बन गई। द्वितीय यह कि दक्षिण भारत में श्वेताम्बर सम्प्रदाय को भी वहां के शिवोपासक लोग ऐसा सम्प्रदाय समझते थे जिसका अंत कर देना शैवों को अभीष्ट था।"

(२) देखो शिवकुमार बाई ब० जीवराज २९ कल० वी० नोट्स २७३, मानकचन्द बनाम मुन्नालाल १९ पञ्जाब रेकार्ड १९०६-४ इंडियन केसेज़ ८४४; वर्धमाननीति २८।

पाप का भागी नहीं होता[२]। बहुत से तीर्थङ्कर पुत्रवान् न होकर भी परम पूज्य पद को प्राप्त हुए। इसके विपरीत बहुत से मनुष्य पुत्रवान् होते हुए भी नरकगामी होते हैं। न तो जैन-धर्म का यह उपदेश है न हो सकता है कि कोई अपनी क्रियाओं या दानादि से किसी मृतक जीव को लाभ पहुँचा सकता है। पिण्डदान का शब्द जहाँ कहीं जैन नीति-शास्त्रों में मिलता है उसका वही अर्थ नहीं है जो हिन्दुओं के शास्त्रों में पाया जाता है कि पितरों के लाभार्थ पिण्ड देना। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनियों ने यह शब्द अत्याचार के समय में ब्राह्मण जाति के प्रसन्नार्थ अपनी कुछ क़ानूनी पुस्तकों में बढ़ा लिया। जैन-लॉ में पिण्डदान का अर्थ शब्दार्थ में लगाना होगा। जैसे सपिण्ड का अर्थ शारीरिक अथवा शरीर सम्बन्धी है उसी प्रकार पिण्डदान का अर्थ पिण्ड का प्रदान करना, अथवा वीर्य-दान करना, भावार्थ पुत्रोत्पत्ति करना है जिसके द्वारा पिण्ड अर्थात् शरीर की उत्पत्ति होती है। जैन-सिद्धान्त के अनुसार पिण्डदान का इसके अतिरिक्त और कोई ठीक अर्थ नहीं हो सकता है। यह ध्यान देने योग्य है कि अर्हन्नीति में जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय का एक मात्र नीति-सम्बन्धी ग्रन्थ है पिण्डदान का उल्लेख कहीं भी नहीं आया है।

स्त्रियों के अधिकारों के विषय में भी जैन-लॉ और हिन्दू-लॉ में बहुत बड़ा अन्तर है। जैन-लॉ के अनुसार स्त्रियाँ दाय भाग की पूर्णतया अधिकारिणी होती हैं। हिन्दू-लॉ में उनको केवल जीवन पर्यंत (life estate) अधिकार मिलता है। सम्पत्ति का पूर्ण स्वामित्व हिन्दू-लॉ के अनुसार पुरुषों ही को मिलता है। पत्नी पूर्णतया अर्धाङ्गिनी के रूप में जैन-लॉ में ही पाई जाती है। पुत्र

(२) भद्रबाहु सं० ८—९।

भी उसके समक्ष कोई अधिकार नहीं रखता है। जैन-लॉ में लड़का केवल बाबा (पितामह) की संपत्ति में अधिकारी है। पिता की निजी स्थावर सम्पत्ति में उसको केवल गुज़ारे का अधिकार प्राप्त है। और अपने जङ्गम द्रव्य का पिता पूर्ण अधिकारी है चाहे जिस प्रकार व्यय करे। इसके अतिरिक्त हिन्दू-लॉ में अविभाजित दशा की प्रशंसा की गई है। जैन-लॉ में उसका निषेध न करते हुए भी पृथकता का आग्रह है ताकि धर्म की वृद्धि हो। जैन-लॉ में अविभाजित सम्पत्ति भी सामुदायिक द्रव्य (tenancy in common) के रूप में है न कि मिताक्षरा के अनुसार अविभक्त सम्पत्ति (joint estate) के तौर पर। यदि कोई पुत्र धर्मभ्रष्ट एवं दुष्ट वा ढीठ है और किसी तरह से न माने तो जैन-नीति के अनुसार उसको घर से निकाल देने की आज्ञा है परन्तु हिन्दू-लॉ के अनुसार ऐसा नहीं हो सकता। इसी प्रकार के अन्य भेदात्मक विषय हैं जो हिन्दू-लॉ और जैन-लॉ के अवलोकन से स्वयं ज्ञात हो जाते हैं। इसलिए यह कहना कि जैन-धर्म हिन्दू-धर्म की शाखा है और जैन-ला, हिन्दू-लॉ समान हैं, नितान्त मिथ्या है।

अन्तिम सङ्कलित भाग में मैंने वह निबन्ध जोड़ दिया है जो डा० गौड़ के हिन्दू-कोड के सम्बन्ध में लिखा था। परन्तु उसमें से वह भाग छोड़ दिया है जिसका वर्तमान विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है। तथा उसमें कुछ ऐसे विशेष नोट बढ़ा दिये गये हैं जिनसे इस बात का ऐतिहासिक ढंग से पता लगता है कि जैनियों पर हिन्दू-लॉ को लागू करने का नियम कैसे स्थापित किया गया।

अन्ततः मैं उन विनयोन्मत्त धर्मप्रेमियों से जो अभी तक शास्त्रों के छपाने का विरोध करते चले आते हैं अनुरोध करूँगा कि अब वह समय नहीं रहा है कि एक दिन भी और हम अपने शास्त्रों को

छिपाये रहें। यदि उनको शास्त्र सभा के शास्त्र को मन्दिर से ले जाकर न्यायालयों में प्रविष्ट करना रुचिकर नहीं है (जिसको मैं भी अनुचित समझता हूँ) तो उनको अपने शास्त्रों को छपवाना चाहिए ताकि छापे की प्रतियों का अन्य प्रत्येक स्थान पर प्रयोग किया जा सके, और जैन-धर्म, जैन-इतिहास और जैन-लॉ के संबंध में जो किंवदंतियाँ संसार में फैल रही हैं दूर हो सकें।

लन्दन
२४-६-२६

चम्पतराय जैन,
बैरिस्टर-एट-ला, विद्यावारिधि।

जैन-लॉ

प्रथम भाग

प्रथम परिच्छेद

दत्तक विधि और पुत्र-विभाग

यों कहने को लोग बहुत प्रकार के सम्बन्धियों को पुत्र (१) शब्द से सम्बोधित कर देते हैं। परन्तु क़ानून के अनुसार पुत्र दो ही प्रकार के माने गये हैं (१) एक औरस (२) दूसरा दत्तक (२)।

औरस पुत्र विवाहिता स्त्री से उत्पन्न हुए को, और दत्तक जो गोद लिया हो उसे कहते हैं। सर्व पुत्रों में औरस और दत्तक ही मुख्य पुत्र गिने गये हैं। गौण पुत्र जब गोद लिये जावें तभी पुत्रों की भाँति दायाद हो सकते हैं अन्यथा अपने वास्तविक सम्बन्ध से

---

(१) जैसे सहोदर (लघु भ्राता), पुत्र का पुत्र, पाला हुआ बच्चा इत्यादि (देखो भद्रबाहु संहिता ८०–८३; वर्धमान नीति २—४; इन्द्र० जि० सं० ३२—३४; अर्ह० ६९–७३; त्रिवर्णाचार ९। ९; नीतिवाक्यामृत अध्याय ३१)। इनमें कहीं कहीं विरोध भी पाया जाता है जो अनुमानतः क़ानून को काव्य अर्थात् पद्य में लिखने के कारण हो गया है। क्योंकि काव्य-रचना क़ानून लिखने के लिए उचित रीति नहीं है।

(२) देखो उपर्युक्त प्रमाण नं० १।

यदि वह अधिकारी हों तो दायाद होते हैं जैसे लघु भ्राता। औरस और दत्तक दोनों ही सपिण्ड गिने जाते हैं और इसलिए पिण्डदान करनेवाले अर्थात् वंश चलानेवाले माने गये हैं। शेष पुत्र यदि अपने वास्तविक सम्बन्ध से सपिण्ड हैं तो सपिण्ड होंगे अन्यथा नहीं।

दत्तक पुत्र में वह पुत्र भी सम्मिलित है जो क्रीत कहलाता है जिसका अर्थ यह है कि जो मोल लेकर गोद लिया गया हो। जिस शास्त्र (३) में क्रीत को अनधिकारी माना है वहाँ तात्पर्य केवल मोल लिये हुए बालक से है जो गोद नहीं लिया गया हो। नीतिवाक्यामृत (४) में जो पुत्र गुप्त रीति से उत्पन्न हुआ हो अथवा जो फेंका हुआ हो वह भी अधिकारी तथा पिण्डदान के योग्य (कुल के चलानेवाले) माने गये हैं, परन्तु वास्तव में वे औरस पुत्र ही हैं। किसी कारण से उनकी उत्पत्ति को छिपाया गया या जन्म के पश्चात् किसी हेतु विशेष से उनको पृथक् कर दिया गया था।

चारों वर्णों में एक पिता की सन्तान यदि कई भाई एकत्र (शामिल) रहते हों और उनमें से एक के ही पुत्र हो तो सभी भाई पुत्रवाले कहलावेंगे (५) इस प्रश्न का कि क्या वह अन्य भाई अपने लिए पुत्र गोद ले सकते हैं कोई उत्तर नहीं दिया गया है। परन्तु यह स्पष्ट है कि यदि वह एकत्र न रहते हों तो उनको पुत्र गोद लेने में कोई बाधा नहीं है। और इस कारण से कि विभाग की मनाही नहीं है और वह चाहे जब अलग-अलग हो सकते हैं यह परिणाम निकलता है कि उनको गोद लेने की मनाही नहीं है। हिन्दू-लॉ में भी ऐसा ही नियम था (देखो मनुस्मृति ९—

(३) नी० वा० अध्याय ३१।

(४) ,, ,, ,,।

(५) भद्र० संहि० ३८, अर्ह० १००।

१८२) परन्तु अब इसका कुछ व्यवहार नहीं है (देखो गौड़ का हिन्दू कोड द्वितीयावृत्ति पृ० ३२४)। यदि कोई व्यक्ति बिना गोद लिए मर जाय तो दूसरे भाई का पुत्र उस मृतक के पुत्र की भाँति अधिकारी होगा।

यदि किसी पुरुष के एक से अधिक स्त्रियाँ हों और उनमें से किसी एक के पुत्र हो तो वह सब स्त्रिया पुत्रवती समझी जावेंगी (६)। उनको गोद लेने का अधिकार नहीं होगा (७)। क्योंकि स्त्रियाँ अपने निमित्त गोद नहीं ले सकती हैं केवल अपने मृतक पति के ही लिए ले सकती हैं। और केवल उसी दशा में जब कि वह मृतक पुत्रवान् न हो। वह एक स्त्री का लड़का उन सबके धन का अधिकारी होगा (७)।

कौन गोद ले सकता है

औरस पुत्र यदि न हो (८) या मर गया हो (९) तो पुरुष अपने निमित्त गोद ले सकता है (१०) या औरस पुत्र को उसके दुराचार के कारण निकाल दिया हो और पुत्रत्व तोड़ दिया गया हो तो भी गोद लिया जा सकता है (११)।

यदि पुत्र अविवाहित मर गया हो तो उसके लिए गोद नहीं लिया जा सकता (९) अर्थात् उसके पुत्र के तौर पर नहीं लिया जा सकता। दत्तक पुत्र को यदि चारित्र्यभ्रष्टता के कारण निकाल

(६) भद्र० संहि० ३६; अर्ह० ९८।
(७) ” ” ४०; ” ९८।
(८) ” ” ४१; ” ८८—८९; वर्ध० ३१—३४।
(९) ” ” ४६; व० नी० ३४।
(१०) ” ” ४१; अर्ह० ८८—८९; व० नी० ३४।
(११) अ० नी० ८८—८९।

दिया गया हो तो भी उसके बजाय दूसरा लड़का गोद लिया जा सकता है (१२)।

यदि पति मर गया हो तो विधवा भी गोद ले सकती है (१३)। विधवा को अनुमति की आवश्यकता नहीं है (१४)। यदि दो विधवा हों तो बड़ी विधवा को छोटी विधवा की अनुमति के बिना गोद लेने का अधिकार प्राप्त है (१५)। सास बहू दोनों विधवा हों तो विधवा बहू गोद ले सकती है (१६)। बशर्ते कि दाय बहू ने पाया हो जो उसी दशा में सम्भव है जब पुत्र पिता के पश्चात् मरा हो। अभिप्राय यह है कि जायदाद जिसने पाई है वही गोद ले सकता है। जिसने जायदाद विरसे में नहीं पाई है वह गोद लेकर वारिस जायज़ को वरसे से महरूम नहीं कर सकता। विधवा बहू सास की आज्ञा से गोद लेवे (१७)। परन्तु यह भी उपदेश मात्र है न कि लाज़मी शर्त्त मालूम पड़ती है सिवाय उस अवस्था के जब कि सास जायदाद की अधिकारिणी है। ऐसी दशा में उसकी अनुमति का यही अभिप्राय होगा कि उसने विरसे से हाथ खींच लिया और दत्तक पुत्र वह जायदाद पावेगा। दत्तक

(१२) वर्ध० २८; अर्ह० ८८-८९।

(१३) ” २८व३०; ” ५७ व १३२; भद्र० ७५।

(१४) अशरफ़ी कुँवर ब० रूपचन्द, ३० इलाहाबाद १९७। शिवकुमार ब० ज्योराज २५ कल० वीकली नोट्स २७३ P.C.। ज्योराज बनाम शिवकुँवर इं० केसेज़ ६६ पृ० ६५। मानक चन्द ब० मुन्नालाल, ९५ पञ्जाब रिकार्ड १९०९ ई०=४ इं० के० ८४४। मनोहरलाल ब० बनारसी दास २९ इला० ४९५।

(१५) अशरफ़ी कुँवर ब० रूपचन्द ३० इलाहाबाद १९७; अमावा ब० महदगौडा२२ बम्बई ४१६।

(१६) भद्र० ७५; अर्ह० ११०।

(१७) भद्र० ११६।

पुत्र के अविवाहित मर जाने पर उसके लिए कोई पुत्र गोद नहीं ले सकता है (१८)। उसकी विधवा माता उसका धन जामाता को दे दे वा बिरादरी के भोजन वा धर्म-कार्य में स्वेच्छानुसार लगावे (१९)। अभिप्राय यह है कि उसके विरसे की अधिकारिणी उसकी विधवा माता ही होगी जो सम्पूर्ण अधिकार से उसको पावेगी। वह विधवा अपने निमित्त दूसरा पुत्र भी गोद ले सकती है (२०) अर्थात् अपने पति के लिए (२१) उस मृतक पुत्र के लिए नहीं ले सकती है। एक मुक़दमे में, जिस का निर्णय हिन्दू-लॉ के अनुसार हुआ, जैन विधवा का पहिले दत्तक पुत्र के मर जाने पर दूसरा पुत्र गोद लेने का अधिकार ठीक माना गया (२२)। दत्तक लेने की सब वर्णों को आज्ञा है (२३)। बम्बई प्रान्त के एक मुक़दमे में जिसका निर्णय रिवाज के अनुसार सन् १८९६ ई० में हुआ जिसमें पिता की जीवन अवस्था में पुत्र के मर जाने से सर्व सम्पत्ति उस मृतक पुत्र की विधवाओं ने पाई, परन्तु बड़ी विधवा ने पुत्र गोद ले लिया, इसे न्यायालय ने उचित ठहराया यद्यपि छोटी विधवा की बिना सम्मति यह कार्य हुआ था (२४)।

---

(१८) भद्र० ४९; अर्ह० १२१—१२२ व १२४; वर्ध० ३०—३२।

(१९) भद्र० ४८; अर्ह० १२३; वर्ध० ३३—३४।

(२०) वर्ध० ३४ और देखो प्रिया अम्मानी ब० कृष्णस्वामी १६ मदरास १८२।

(२१) अर्ह० १२४।

(२२) लक्ष्मीचन्द ब० गट्टूबाई ८ इला० ३१९।

(२३) अर्ह० ८९।

(२४) अमावा ब० महद गोडा २२ बम्बई ४१६ और देखो अशरफ़ी कुँअर ब० रूपचन्द ३० इला० १९७।

कौन दत्तक हो सकता है

जिसके कारण मनुष्य सपुत्र कहलाता है अर्थात् प्रथम पुत्र गोद नहीं देना चाहिए (२५) क्योंकि प्रथम पुत्र से ही पुरुष पुत्रवाला (पिता) कहा जाता है (२६)। संसार में पुत्र का होना बड़ा आनन्ददायक समझा गया है (२७)। पुण्यात्माओं के ही बहुत से पुत्र होते हैं जो सब मिलकर अपने पिता की सेवा करते हैं (२८)। हिन्दू-लॉ की भाँति अनुमानतः यह मनाही आवश्यकीय नहीं है और रिवाज भी इसके अनुसार नहीं है (२९)।

लड़का गोद लेनेवाली माता की उम्र से बड़ी उम्र का नहीं होना चाहिए (३०)। कोई बन्धन कुँआरेपन की जैन-लॉ मे नहीं है (३१)।

देवर, पति के भाई का पुत्र, पति के कुटुम्ब का बालक (३२), पुत्री का पुत्र (३३) गोद लिये जा सकते हैं। परन्तु उक्त क्रम की अपेक्षा से गोद लेना श्रेष्ठतर होगा (३४)। इनके अभाव मे पति

---

(२५) अर्हं० ३२।

(२६) भद्र० ७।

(२७) भद्र० १, अर्हं० १२।

(२८) अर्हं० १३।

(२९) गौड़ का हिन्दू कोड द्वितीयावृत्ति ३८२।

(३०) भद्र० ११६ मगर देखो मानकचन्द ब० मुन्नालाल ६५ पंजा० रेकार्ड १९०९ = ४ इंडियन केसेज़ ८४४।

(३१) इन्द्र० १९।

(३२) इन्द्र० १९ मगर देखो मानकचन्द ब० मुन्नालाल ६५ पञ्जाब रे० १९०९ = ४ इ० के० ८४४ (निस्बत देवर के गोद लेने के)।

(३३) होमाबाई ब० पंजियाबाई ५ वी० रि० १०२ प्री० कौं०; शिवसिंहराव ब० दाखो १ इला० ६८८ प्री० कौं०।

(३४) अर्हन्नीति ५५—५६।

के गोत्र का कोई भी लड़का गोद लिया जा सकता है (३४)। बड़ी आयु का, विवाहित पुरुष तथा संतानवाला भी गोद लिया जा सकता है (३५)। लड़की और बहिन के पुत्र को भी गोद लेने की आज्ञा है (३६)।

गोद लेने की विधि

वास्तव में गोद में देना आवश्यक है (३७) परन्तु यदि वह असम्भव हो तो किसी अन्य प्रकार से देना भी यथेष्ट होगा (३८)। किन्तु दे देना आवश्यक है (३९)। इसका लेख भी यथासम्भव होना चाहिए और रजिस्टरी होना चाहिए। प्रातःकाल दत्तक लेनेवाला पिता मन्दिर में जाकर द्वारोद्घाटन करके श्रीतीर्थंकरदेव की पूजा करे और दिन में कुटुम्ब एवं बिरादरी के लोगों को इकट्ठा करके उनके सामने पुत्र-जन्म का उत्सव मनावे और सब आवश्यक संस्कार पुत्र-जन्म की भाँति करे। इससे प्रकट होता है कि श्रीतीर्थंकरदेव की पूजा और वास्तव में गोद में दे देना अत्यन्त आवश्यक बातें हैं। परन्तु रिवाज के अनुसार यदि वास्तव में गोद में दे दिया गया है तो

(३५) हसन अली ब० नागामल १ इला० २८८। मानकचन्द ब० मुन्नालाल ६५ पञ्जाब रे० ११०१ = ४ इंडियन केसेज़ ८४४; मनोहरलाल ब० बनारसीदास २१ इला० ४६५; अशरफी कुँवर ब० रूपचन्द ३० इला० १९७; जमनाबाई ब० जवाहरमल ४६ इंडि० के० ८१।

(३६) लक्ष्मीचन्द ब० गट्टो० ८ इला० ३१९; हसन अली ब० नागामल १ इला० २८८।

(३७) भद्र० ४९—५१; अर्ह० ५६—६५; गौड़ का हिन्दू कोड द्वि० वृ० २१६।

(३८) शिव कुँवर ब० जीवराज २५ कल० वी० नो० २७३ प्री० कौं०।

(३९) " " " " ।
जमनाबाई ब० जुहारमल २६ इंडि० के० ८१; जीवराज ब० शिवकुँवर ६६ इंडि० के० ६५।

वह भी अनुमानतः यथेष्ट माना जाय। हिन्दू-लॉ के अनुसार पुत्र के माता पिता के अतिरिक्त और कोई उसका सम्बन्धी गोद नहीं दे सकता। परन्तु जैन-लॉ में ऐसा कोई प्रतिबन्धक नियम नहीं है। जैन-नीति के अनुकूल अनाथ भी गोद लिया जा सकता है (४०)। यदि पुत्र वयस्प्राप्त (बालिग़) हो तो उसकी सम्मति वा छोटी अवस्था में उसके किसी सम्बन्धी की सम्मति भी पर्याप्त होगी (४१)। यदि माता और कुटुम्बी जन सहमत हों तो पुत्र गोद दिया जा सकता है (४२)।

जब कोई विधवा गोद ले तो उस विधवा को चाहिए कि सर्व सम्पति का भार अपने दत्तक पुत्र को सौंप दे और स्वयं धर्म-कार्य में संलग्न हो जाय (४३)।

दत्तक पुत्र लेने का परिणाम

दत्तक पुत्र औरस पुत्र के समान ही होता है (४४)। माता पिता के जीवन पर्यन्त दत्तक पुत्र को कोई अधिकार उनकी और पैतामहिक (मौरूसी अर्थात् बाबा की) सम्पत्ति को बेचने वा गिरवी रखने का नहीं है (४५)।

यदि दत्तक पुत्र अयोग्य (कुचलन) हो या सदाचार के नियमों के विरुद्ध कार्य करने लगे या धर्म-विरुद्ध हो जाय और किसी प्रकार न माने, तो उसे न्यायालय द्वारा चाहे वह विवाहित हो

(४०) गौड़ का हिन्दू कोड द्वि० वृ० ३६७। पुरुषोत्तम ब० बेनीचन्द २३ बम्बई लॉ रिपोर्टर २२७ = ६१ इंडि० के० ४६२।

(४१) मानकचन्द ब० मुन्नालाल ६५ पञ्जाब रे० १६०६ = ४ इंडि० के० ८४४।

(४२) अशरफ़ी कुँअर ब० रूपचन्द ३० इला० १६७।

(४३) भद्र० ५५ और ६६।

(४४) अर्ह० ५८।

(४५) भद्र० ६०।

अथवा अविवाहित हो घर से निकाल दे और न्यायालय के द्वारा उससे पुत्रत्व सम्बन्ध छोड़ दे (४६)। फिर उसका कोई अधिकार शेष नहीं रहेगा (४७)। इससे यह प्रकट है कि जैन-लॉ में पुत्रत्व तोड़ाने का (declaratory*) मुक़दमा हो सकता है। उस मुक़दमे का फ़ैसला करते समय प्राकृतिक न्याय को लक्ष्य रक्खा जायगा। अर्हन्नीति के शब्द इस विषय में इतने विशाल हैं कि उसमें औरस पुत्र भी आ जाता है (४८)।

यदि दत्तक पुत्र माता पिता की प्रेमपूर्वक सेवा करता है और उनका आज्ञाकारी है तो वह औरस के समतुल्य ही समझा जायगा (४९)।

यदि दत्तक लेने के पश्चात् औरस पुत्र उत्पन्न हो जाय तो दत्तक को चतुर्थ भाग सम्पत्ति का देकर पृथक् कर देना चाहिए (५०)।

परन्तु यह नियम तब ही लागू होगा जब वह पुत्र पिता की सवर्णा स्त्री से उत्पन्न हो। असवर्णा स्त्री की सन्तान केवल गुज़ारे की अधिकारी है दाय भाग की अधिकारी नहीं है (५१)। परन्तु यह विषय कुछ अस्पष्ट है क्योंकि अनुमानतः यहाँ असवर्णा शब्द का अर्थ शूद्रा स्त्री का है। क्योंकि जैन नीति में उच्च जाति के पुरुष की संतान, जो शूद्र स्त्री से हो, गुज़ारे मात्र की अधिकारी

(४६) भद्र० ५२—५४; वर्ध०२५—२६; अर्ह० ८६—८८।

(४७) ,, ५४; ,, ,, २७; ,, ८८।

* Declaration—सूचना, घोषणा।

(४८) अर्ह० ८६—८८ और ६५।

(४९) ,, ५८।

(५०) भद्र० ६३—६४; वर्ध० ५—६; अर्ह० ६७—६८। रुपभ ब० चुन्नीलाल अम्बूशेठ १६ बम्बई ३४७।

(५१) अर्हन्नीति ६६; वर्ध० ४।

है। अनुमानतः रचयिता के विचार में केवल यह विषय था कि वैश्य पिता के एक वैश्य वर्ण और दूसरी शूद्र वर्ण की ऐसी दो स्त्रियाँ हों और दत्तक लेने के पश्चात् उस पिता के पुत्र उत्पन्न हो जाय तो यदि यह पुत्र वैश्य स्त्री से उत्पन्न हुआ है तो दत्तक पुत्र को सम्पत्ति का चतुर्थ भाग दिया जायगा और शेष औरस पुत्र लेगा, परन्तु यदि पुत्र शूद्रा स्त्री से उत्पन्न हुआ है तो वह दत्तक पुत्र को अनधिकारी नहीं कर सकेगा केवल गुज़ारा पावेगा जो उसे जैन-लॉ के अनुसार प्रत्येक दशा में मिलता।

पगड़ी बाँधने के योग्य औरस पुत्र ही होता है (५२)। परन्तु यदि औरस पुत्र के उत्पन्न होने से प्रथम ही दत्तक पुत्र के पगड़ी बाँध दी गई है तो औरस पुत्र के पगड़ी नहीं बँधेगी, किन्तु दोनों समान भाग के अधिकारी होंगे (५२)।

औरस तथा दत्तक दोनों ही प्रकार के पुत्र यदि माता की आज्ञा के पालन में तत्पर, विनीत एवं अन्य प्रकार गुणवान् हों और विद्योपार्जन में संलग्न रहें तो भी वे साधारण कुल-व्यवहार के अतिरिक्त कोई विशेष कार्य माता की इच्छा तथा सम्मति के बिना नहीं कर सकते (५३)। यह नियम पुत्र की नाबालगी के सम्बन्ध में लागू होता मालूम पड़ता है अथवा उस सम्पत्ति से लागू है जो माता को दाय भाग में मिली है जिसके प्रबन्ध करने में पुत्र स्वतन्त्र नहीं है। अन्य अवस्थाओं में यह नियम परामर्श तुल्य ही है (५४)।

---

(५२) भद्र० ९३—९४; वर्ध० ५—६; अर्ह० ६७—६८।
(५३) वर्ध० १८—१९; अर्ह० ८३—८४।
(५४) अर्ह० १०४।

द्वितीय परिच्छेद

विवाह

पुरुष को ऐसी कन्या से विवाह करना चाहिए जो उसके गोत्र की न हो वरन् किसी अन्य गोत्र की हो परन्तु उस पुरुष की जाति की हो और जो आरोग्य, विद्यावती, शीलवती हो और उत्तम गुणों से सम्पन्न हो (१)। वर भी बुद्धिमान्, आरोग्य, उच्च कुलीन, रूपवान् और सदाचारी होना चाहिए (२)। जिस कन्या की जन्मराशि पति की जन्मराशि से छठी या आठवीं न पड़ती हो ऐसी कन्या वरने योग्य है (३)। उसको पति के वर्ण से विभिन्न वर्ण की नहीं होना चाहिए (४)। कन्या रूपवती हो तथा आयु और डीलडौल में वर से न्यून हो (४)। परन्तु यह कोई आवश्यक नियम नहीं है। गोत्र के विषय में नियम प्रतिबन्धक (लाज़िमी) है (५)। बुआ की लड़की, मामा की लड़की और साली के साथ विवाह करने में दोष नहीं है (६)। परन्तु ऐसा बहुत कम होता है और इस विषय में स्थानीय रिवाज का ध्यान रखना होगा (७)।

---

(१) त्रैवर्णाचार अध्याय ११ श्लोक ३।
(२) ,, ,, ,, ४।
(३) ,, ,, ,, ३५।
(४) ,, ,, ,, ३६, ४०।
(५) ,, ,, ,, ३८, १७५।
(६) ,, ,, ,, ३७।
(७) ,, ,, ११—३७; सोमदेव नीति (देश कालापेक्षो मातुल सम्बन्धः)।

मौसी की लड़की अथवा सासू की बहिन से विवाह करना मना है (८)। गुरु की पुत्री से भी विवाह अनुचित है (९)। यदि विवाह का इकरार हो चुका है और लड़की के पक्षवाले उस पर कार्यबद्ध न रहें तो वह हर्जा देने के ज़िम्मेदार हैं (१०)। यही नियम दूसरे पक्षवालों पर भी अनुमानतः लागू होगा। परन्तु अब इन विषयों का निर्णय प्रचलित क़ानून अर्थात् ऐक्ट मुआहिदे (दि इन्डियन कौन्ट्रैक्ट ऐक्ट) के अनुसार किया जायगा। यदि विवाह के पूर्व कन्या का देवलोक हो जाय तो ख़र्चा काटकर जो कुछ उसको ससुराल से मिला था (गहना आदि) लौटा देना चाहिए (११)। और जो उसे अपने माइके या ननिहाल से मिला हो वह उसके सहोदर भाइयों को दे देना चाहिए (११)।

जैन-नीति के अनुसार उच्च वर्णवाला पुरुष नीच वर्ण की कन्या से विवाह कर सकता है (१२)। परन्तु शूद्र स्त्री से किसी उच्च वर्णवाले पुरुष की जो सन्तान होगी तो वह सन्तान पिता की सम्पत्ति नहीं पावेगी (१३)। केवल गुज़ारे मात्र की अधिकारी होगी (१४)। अथवा वही सम्पत्ति पावेगी जो उनके पिता ने अपनी जीवनावस्था में उन्हें प्रदान कर दी हो (१५)। शूद्र पुरुष को केवल

(८) त्रै० अ० ११ श्लो० ३८।
(९) ” ” ” ४०।
(१०) अर्हं० १२७।
(११) ” १२८।
(१२) अर्हं० ३८—४०; भद्र ३२—३३; इन्द्र० ३०—३१।
(१३) ” ३९—४१; इ० न० ३२।
(१४) ” ४०—४१; भद्र० ३५—३६।
(१५) भद्र० ३५; इन्द्र० ३२—३४।

अपने वर्ण में अर्थात् शूद्र स्त्री से विवाह करने का अधिकार है (१६)। श्रीआदिपुराण में ऐसा नियम दिया हुआ है—

"शूद्रा शूद्रेण वोढव्यं नान्यातां स्वांच नैगमः।
वहेत्सवां तेच राजन्याः वां द्विजन्मःत्रक्कचिच्चताः॥"

पर्व १६—२४७ श्लो०

इसका अर्थ यह है कि पुरुष अपने से नीचे वर्ण की कन्या से विवाह कर सकता है। अपने से ऊँचे वर्ण की स्त्री से नहीं कर सकता। इस प्रकार ब्राह्मण चारों वर्ण की स्त्रियों, क्षत्रिय तीन वर्ण की, वैश्य दो वर्ण की, और शूद्र केवल एक वर्ण की अर्थात् सवर्ण स्त्री का पाणि ग्रहण कर सकता है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह नियम पूर्व समय में प्रचलित था। पश्चात् में ब्राह्मण पुरुष का शूद्र स्त्री से विवाह करना अनुचित समझा जाने लगा।

परस्परं त्रिवर्णानां विवाहः पंक्ति भोजनम्।
कर्तव्यं न च शूद्रैस्तु शूद्राणां शूद्रकैः सह॥ ६/२४६॥ (१७)।

विवाहों के भेद

ब्राह्म विवाह, दैव विवाह, आर्ष विवाह और प्राजापत्य विवाह यह चार धर्म विवाह कहलाते हैं (१८)। और असुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच विवाह यह चार अधर्म विवाह कहलाते हैं (१८)।

बुद्धिमान् वर को अपने घर पर बुलाकर बहुमूल्य आभूषणों आदि सहित कन्या देना ब्राह्म विवाह है (१९)। श्रीजिनेन्द्र

---

(१६) अर्ह० ४४।

(१७) धर्म संग्रह श्रावकाचार मेधावी रचित १५०४ ई० (१५६१ विक्रम संवत्)।

(१८) त्रि० अ० ११ श्लोक ७०।

(१९) " " " ७१।

भगवान् की पूजा करनेवाले सद्धर्मी प्रतिष्ठाचार्य को पूजा की समाप्ति पर पूजा करानेवाला अपनी कन्या दे दे तो वह दैव विवाह है (२०)। यही दोनों उत्तम प्रकार के विवाह माने गये हैं क्योंकि इनमें वर से शादी के बदले में कुछ लिया नहीं जाता। कन्या के वस्त्र या कोई ऐसी ही मामूली दामों की वस्तु वर से लेकर धर्मानुकूल विवाह कर देना आर्ष विवाह है (२१)।

कन्या प्रदान के समय "तुम दोनों साथ साथ रहकर स्वधर्म का आचरण करो" ऐसे वचन कहकर विवाह कर देना प्राजापत्य विवाह कहलाता है (२२)। इसमें अनुमानतः वर की ओर से कन्या के साथ विवाह करने की इच्छा प्रकट होती है और शायद यह भी आवश्यकीय नहीं है कि वह कुँआरा ही हो (२३)। कन्या को मोल लेकर विवाह करना असुर विवाह है (२४)। कन्या और वर का स्वयं निजेच्छानुसार माता पिता की सम्मति के बिना ही विवाह कर लेना गान्धर्व विवाह है (२५)। कन्या को बरजोरी से पकड़कर विवाह कर लेना राक्षस विवाह है (२६)। अचेत, असहाय, या सोती हुई कन्या से भोग करके विवाहना पैशाच विवाह है (२७) यह सबसे निकृष्ट विवाह है।

(२०) त्रै० अ० श्लो० ७२।
(२१) त्रै० अध्याय ११ श्लोक ७३।
(२२) " " ७४।
(२३) गुलाबचन्द सरकार शास्त्री का हिन्दू-ला।
(२४) त्रै० अध्याय ११ श्लो० ७५।
(२५) " " " ७६।
(२६) " " " ७७।
(२७) " " " ७८।

आजकल केवल प्रथम प्रकार का विवाह ही प्रचलित है; शेष सब प्रकार के विवाह बन्द हो गये हैं। श्रीआदिपुराण के अनुसार स्वयंवर विवाह जिसमें कन्या स्वयं वर को चुने सबसे उत्तम माना गया है। परन्तु अब इसका भी रिवाज नहीं रहा।

विधवाविवाह

विधवाविवाह उत्तरीय भारत में प्रचलित नहीं है। परन्तु बरार और आस पास के प्रान्तों में कुछ जातियों में होता है जैसे सेतवाल। पुराणों में कोई उदाहरण विधवाविवाह का नहीं पाया जाता है किन्तु शास्त्रों में कोई आज्ञा या निषेध स्पष्टत: इस विषय के सम्बन्ध में नहीं है। परन्तु त्रिवर्णाचार के कुछ श्लोक ध्यान देने योग्य हैं (२८)। इसलिए विधवाविवाह-सम्बन्धी मुक़दमों का निर्णय देश के व्यवहार के अनुसार ही किया जा सकता है।

विवाहविधि

वाग्दान, प्रदान, वरण, पाणिपीड़न और सप्तपदी विवाह के विधान के पाँच अंग है (२९)।

वाग्दान (engagement) अथवा सगाई उस इकरार को कहते हैं जो विवाह के पूर्व दोनों पक्षों में विवाह के सम्बन्ध में होता है। प्रदान का भाव वर की ओर से गहना इत्यादि का कन्या को भेंट रूप से देने का है।

वरण कन्यादान को कहते हैं जो कन्या का पिता वर के निमित्त करता है। पाणिपीड़न या पाणिग्रहण का भाव हाथ मिलाने से है (क्योंकि विवाह के समय वर और कन्या के हाथ मिलाये जाते हैं)। सप्तपदी भाँवरों को कहते हैं। कन्यादान पिता को करना

---

(२८) त्रै० अ० ११ श्लो० २० और २४।

(२९) त्रै० व० अध्याय ११ श्लो० ४१।

चाहिए, यदि वह न हो तो बाबा, भाई, चाचा, पिता, गोत्र का कोई व्यक्ति, गुरु, नाना, मामा क्रमशः इस कार्य को करें (३०)। यह कोई न हों तो कन्या स्वयं अपना विवाह कर सकती है (३१)। बिना सप्तपदी के विवाह पूर्ण नहीं समझा जा सकता (३२)।

सप्तपदी के पूर्व और पाणिग्रहण के पश्चात् यदि वर में कोई जाति-दोष मालूम हो जाय या वर दुराचारी विदित हो तो कन्या का पिता उसे किसी दूसरे वर को विवाह सकता है (३३)। इस विषय में कुछ मतभेद जान पड़ता है क्योंकि एक श्लोक में शब्द पतिसंग से पहले लिखा है (३४)। जैन-नीति के अनुसार एक पुरुष कई स्त्रियों से विवाह कर सकता है अर्थात् एक स्त्री की उपस्थिति में दूसरी स्त्री से विवाह कर सकता है (३५)। विवाह के पश्चात् सात दिन तक वर और कन्या को ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिए। पुनः किसी तीर्थ क्षेत्र की यात्रा करके किसी दूसरे स्थान पर परस्पर विहार करें और भोग-विलास (honey moon) में अपना समय बितावें (३६)।

---

(३०) त्रै० अ० ११ श्लो० ८२।
(३१) " " " " ८३।
(३२) " " " " १०२।
(३३) " " " " १७४।
(३४) " " " " १७५।
(३५) " " " " १७६ व १९७ व १९९ व २०४
(३६) आदिपुराण अ० ३८ " १३१—१३३।

तृतीय परिच्छेद

सम्पत्ति

जैन-लॉ के अनुसार सम्पत्ति के स्थावर और जङ्गम दो भेद हैं। जो पदार्थ अपनी जगह पर स्थिर है और हलचल नहीं सकता वह स्थावर है, जैसे गृह, बाग़ इत्यादि; और जो पदार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान में सुगमता पूर्वक आ जा सकता है वह जङ्गम है (१)। दोनों प्रकार की सम्पत्ति विभाजित हो सकती है। परन्तु ऐसा अनुरोध है कि स्थावर द्रव्य अविभाजित रक्खे जायँ (२)। क्योंकि इसके कारण प्रतिष्ठा और स्वामित्व बने रहते हैं (देखो अर्हन्नीति० श्लो० ५)।

दाय भाग की अपेक्षा सप्रतिबन्ध और अप्रतिबन्ध दो प्रकार की सम्पत्ति मानी गई है। पहिली प्रकार की सम्पत्ति वह है जो स्वामी के मरण पश्चात् उसके बेटे, पोतों को सन्तान की सीधी रेखा में पहुँचती है। दूसरी वह है जो सीधी रेखा में न पहुँचे वरन् चाचा, ताऊ इत्यादि कुटुम्ब सम्बन्धियों से मिले (३)।

सम्पत्ति जो विभाग योग्य नहीं है

निम्न प्रकार की सम्पत्ति भाग योग्य नहीं है—

१—जिसे पिता ने अपने निजी मुख्य गुणों या पराक्रम द्वारा प्राप्त किया हो: जैसे, राज्य (४)।

---

(१) भद्र० १४—१५; अर्ह० ३—४।

(२) भद्र० १६ और ११२; अर्ह० ५।

(३) अर्ह० २; इन्द्र० २।

(४) भद्र० १००।

२—पैत्रिक सम्पत्ति की सहायता बिना जो द्रव्य किसी ने विद्या आदि गुणों द्वारा उपार्जन किया हो, जैसे, विद्या-ज्ञान द्वारा आय (५)।

३—जो सम्पत्ति किसी ने अपने मित्रों अथवा अपनी स्त्री के बन्धुजनों से प्राप्त की हो (६)।

४—जो खानों में गड़ी हुई उपलब्ध हो जावे अर्थात् दफीना आदि (७)।

५—जो युद्ध अथवा सेवा-कार्य से प्राप्त हुई हो (८)।

६—जो साधारण आभूषणादिक पिता ने अपनी जीवनावस्था में अपने पुत्रों वा उनकी स्त्रियों को स्वयं दे दिया हो (९)।

७—स्त्री-धन (१०)।

८—पिता के समय की डूबी हुई सम्पत्ति जिसको किसी भाई ने अविभाजित सम्पत्ति की सहायता बिना प्राप्त की हो (१० अ)। परन्तु स्थावर सम्पत्ति की दशा में वह पुरुष जो उसे प्राप्त करे केवल अपने सामान्य भाग से चतुर्थ अंश अधिक पावेगा (११)।

(५) भद्र० १०२ और १०३; वर्ध० ३७—३८; अर्ह० १३३—१३५; इन्द्र० २१।

(६) भद्र० १०२; अर्ह० १३३—१३५; वर्ध० ३७—३८।

(७) ,, १०२।

(८) वर्ध० ३७—३८; अर्ह० १३३—१३५।

(९) अर्ह० १३२।

(१०) भद्र० १०१; वर्ध० ३९—४५; इन्द्र० ४७—४८; अर्ह० १३६—१४३।

(१० अ) वर्ध० ३७—३८; अर्ह० १३३—१३५।

(११) इन्द्र० २० (मिताक्षरा लॉ का भी यही भाव है)।

विभाग

हिन्दू-लॉ के विरुद्ध जैन-लॉ विभाग को उत्तम बतलाता है क्योंकि उससे धर्म की वृद्धि होती है और प्रत्येक भाई को पृथक् पृथक् धर्म-लाभ का शुभ अवसर प्राप्त होता है (११ अ)।

विभागयोग्य जो सम्पत्ति नहीं है उसे छोड़कर शेष सब प्रकार की सम्पत्ति नीति और मुख्य रिवाज के अनुसार (यदि कोई हो) दायादों में विभक्त हो सकती है (१२)।

पिता की जो सम्पत्ति विभागयोग्य नहीं है उसको केवल सबसे बड़ा पुत्र ही पावेगा (१३)। वह पुत्र जो चोरी, विषय-सेवन अथवा अन्य व्यसनों में लिप्त है और अत्यन्त दुराचारी है अदालत के द्वारा अपने भाग से वंचित रक्खा जा सकता है (१४)। पिता की उपार्जित सम्पत्ति जैसे राज्यादि, जो ज्येष्ठ पुत्र को मिली है, उसमें छोटे भाइयों को, जो विद्याध्ययन में संलग्न हों, कुछ भाग गुज़ारे निमित्त मिलना चाहिए (१५)। परन्तु शेष (विभागयोग्य) सम्पत्ति में अन्य सब भाई समान भाग के अधिकारी हैं जिससे वे व्यापार आदि व्यवसाय कर सकते हैं (१६)।

पिता की जीवन-अवस्था में विभाग

बाबा की सम्पत्ति में से पुत्रों को, उनकी माताओं को और पिता को समान भाग मिलने चाहिएँ (१७)। परन्तु यदि सम्पत्ति बाबा

(११ अ) भद्र० १३।
(१२) इन्द्र० ४५; भद्र० ४।
(१३) भद्र० १००।
(१४) अर्ह० ८६—८७ और १२०।
(१५) भद्र० ६८।
(१६) भद्र० ६६।
(१७) अर्ह० २७।

की नहीं है और पिता की ही स्वयं उपार्जित है तो पुत्रों को कोई अधिकार विभाजित कराने का नहीं है। जो कुछ भाग पिता प्रसन्नतापूर्वक पुत्र को पृथक् करते समय दे उसे उसी पर संतोष करना चाहिए (१८)।

माता की जीवनावस्था में जिस द्रव्य की वह स्वामिनी है उसको भी पुत्र केवल उसके इच्छानुसार ही पा सकते हैं (१८)।

माता पिता की मृत्यु के पश्चात् विभाग

पिता की मृत्यु के पश्चात् सब भाई पैत्रिक (बाप की) सम्पत्ति को समानतः बांट लें (१८)। प्रथम ऋण चुकाना चाहिए (यदि कुछ हो) तत्पश्चात् शेष सम्पत्ति विभक्त करना उचित है (१९)।

ज्येष्ठांश

जैन-नीति में सबसे प्रथम उत्पन्न हुए पुत्र का अधिकार कुछ विशेष माना गया है (२०)। बाबा की सम्पत्ति के अतिरिक्त पिता की स्वयं उपार्जित सम्पत्ति को ज्येष्ठ पुत्र ही पायेगा। अन्य लघु पुत्र अपने ज्येष्ठ भ्राता को पिता के समान मानकर उसकी आज्ञा में रहेंगे (२१)। यह नियम राज्य अथवा बड़ी बड़ी रियासतों से लागू होगा। परन्तु राज्यादि की अवस्था में जो छोटे भाई अपने बड़े भाई की आज्ञा का पालन करते रहेंगे उनके निर्वाह आदि का दायत्व बड़े भाई पर होगा। यह तो क़ानूनी परिणाम ही होता है।

विभाग के समय सम्पत्ति की अपेक्षा से कुछ भाग (जैसे दशांश) ज्येष्ठ भ्राता के निमित्त पृथक् कर दिया जावे; शेष सम्पत्ति सब भाइयों में

(१८) भद्र० ४; वर्ध० ८; अर्ह० १५।
(१९) भद्र० १११; अर्ह० १६।
(२०) ,, ६।
(२१) ,, ५।

समानतः विभाजित की जावे। इस प्रकार ज्येष्ठ पुत्र, और भाइयों के समान भाग पायगा और उनसे कुछ अधिक ज्येष्ठांसी के उपलक्ष में भी पावेगा (२२)। यदि अन्य भाई वयःप्राप्त नहीं हैं तो वे बड़े भाई की संरक्षकता में रहेंगे और उनकी सम्पत्ति की देखभाल और सुव्यवस्था का भार भी ज्येष्ठ भाई पर होगा (२३)। बाबा की सम्पत्ति सब भाइयों में बराबर बराबर बँटनी चाहिए (२४)। बाबा की सम्पत्ति का भाग पीढ़ियों की अपेक्षा से होगा, भावार्थ पुत्रों की गणना के अनुसार। पौत्र अपने अपने पिताओं के भाग को समानरूपेण बाँटेंगे (२५)।

यदि कोई मनुष्य विभाग के पश्चात् मर जाय और कोई अधिक क़रीबी-वारिस न छोड़े तो उसका हिस्सा उसके भाई भतीजे पावेंगे (२५ अ)।

यदि विभक्त हो जाने के पश्चात् पुनः सब भाई एकत्र हो जावें और फिर विभाजित हों तो उस समय ज्येष्ठांसी का हक़ नहीं माना जायगा (२६)।

यदि दो पुत्र एक समय उत्पन्न हुए हों तो उनमें से जो प्रथम उत्पन्न हुआ है वही ज्येष्ठ समझा जायगा (२७)। यदि प्रथमोत्पन्न पुत्री हो तत्पश्चात् पुत्र हुआ हो तो पुत्र ही ज्येष्ठ माना जायगा (२८)।

---

(२२) भद्र० १७।
(२३) अर्ह० २१।
(२४) इन्द्र० २४।
(२५) अर्ह० ११।
(२५ अ) व० नी० ५२; और देखो अर्ह० ६०—६१
(२६) भद्र० १०४—१०५।
(२७) ,, २२; अर्ह० २६।
(२८) ,, २३; ,, ३०।

गोधन अर्थात् गाय भैंस घोड़ा इत्यादि विभागयोग्य हैं। परन्तु यदि कोई भागी पुरुष उनके रखने के योग्य न हो तो उसका भाग भी दूसरे भागी निःसन्देह ले लें (२९)। अनुमानतः इस नियम पर वर्तमान काल में जब कि गोधन का मूल्य अति अधिक हो गया है व्यवहार नहीं हो सकेगा। शायद पूर्व समय में यह नियम उस दशा में लागू होता था जब कोई भागी किसी चतुष्पद को खिलाने और रखने में असमर्थ होता था तो उसके बदले में किसी से कुछ याचना किये बिना ही अपने भाग का परित्याग कर देता था। ऐसी दशा में उस भाग का मूल्य देने का दायत्व यों ही किसी पर न हो सकता था।

दायाद की अयोग्यता

निम्नलिखित मनुष्य दायभाग से वञ्चित समझे गये हैं—

१—पैदायशी नपुंसकता या ऐसे रोग का रोगी जो चिकित्सा करने से अरोग नहीं हो सकता (३०)।

२—जो सब प्रकार से सदाचार का विरोधी हो (३१)।

३—उन्मत्त, लँगड़ा, अन्धा, रज़ील (क्षुद्र = नीच), कुब्जा (३२)।

४—जातिच्युत, अपाहिज़, माता पिता का घोर विरोधी, मृत्यु-निकट, गूँगा, बहरा, अतीव क्रोधी, अङ्गहीन (३३)।

ऐसे व्यक्ति केवल गुज़ारे के अधिकारी हैं, भाग के नहीं (३४)। परन्तु यदि उनका रोग शान्त हो गया है तो वह अपने भाग के अधि-

(२९) भद्र० १८।

(३०) ,, ६९; अर्ह० ६२, ६३; इन्द्र० ४१—४२, वर्ध० ५२; ५३।

(३१) इन्द्र० ४५।

(३२) भद्र० ७०; अर्ह० ६३—६४; इन्द्र० ४१—४२, वर्ध० ५३।

(३३) अर्ह० ६२—६३; इन्द्र० ४१—४२ व ४५।

(३४) ,, ६; ,, १०, ४१—४२ व ४३।

कारी हो जायँगे (३५)। नहीं तो उनका भाग उनकी पत्नियों वा पुत्रों को यदि वे योग्य हों पहुँचेगा (३६)। या पुत्री के पुत्र को मिलेगा (३७)। दायभाग की अयोग्यता का यह भाव नहीं है कि मनुष्य अपनी निजी सम्पत्ति से भी वञ्चित कर दिया जावे (देखो भद्रबाहु० १०३)।

जिस पुरुष की दायभाग लेने की इच्छा न हो उसको भी भाग न मिलेगा (३८)। और जो पुरुष मांसादिक अभक्ष्य ग्रहण करता है वह भी भाग से वञ्चित रहेगा (३९)। इस बात का अनुमानतः निर्णय न्यायालय से ही होगा और सम्भव है कि वर्तमान दशा में यह नियम परामर्श रूप ही माना जावे।

साधु का भाग

यदि कोई पुरुष विभाजित होने से पूर्व साधू होकर चला गया हो तो स्त्रीधन को छोड़कर, सम्पत्ति के भाग उसी प्रकार लगाने चाहिएँ जैसे उसकी उपस्थिति में होते और उसका भाग उसकी पत्नी को दे देना चाहिए (४०)। यदि उसके एक पुत्र ही है तो वह स्वभावतः अपने पिता के स्थान को ग्रहण करेगा। यदि कोई व्यक्ति अविवाहित मर जावे अथवा साधू हो जावे तो उसका भाग उसके भाई भतीजों को यथायोग्य मिलेगा (४१)। यदि वह विभाग होने के पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हो तो उसका भाग भाई भतीजे समान

(३५) अर्हं० ६४; इन्द्र० ४३।
(३६) ,, ६४।
(३७) इन्द्र० ४४।
(३८) इन्द्र० १०।
(३९) ,, ४२।
(४०) भद्र० ८४; वर्ध० ४८; अर्हं० ६०।
(४१) अर्हं० ६१।

रूप से लेंगे (४२)। भद्रबाहु संहिता के अनुसार बहिन भी भाग की अधिकारिणी है (४२)। परन्तु अनुमानतः इस श्लोक का अर्थ कुँवारी बहिन से है जिसके विवाह का दायत्व भाइयों पर ही है। उसका भाग भी उसके भ्राताओं के समान ही बताया गया है जो निस्सन्देह पद्यरचना की आवश्यकताओं के कारणवश है। क्योंकि अन्यथा बहिन का भाग भाई के समान होना नियम-विरुद्ध है। बहुत सम्भव है कि यह माप उसके विवाह-व्यय के निमित्त जो द्रव्य पृथक् की जावे उसकी अन्तिम सीमा हो।

विद्याध्ययन एवं विवाह निमित्त लघु भ्राताओं के अधिकार

छोटे भाइयों का विवाह करके जो धन बचे उसे सब भाई समान बाँट लें (४३)। इस विषय में विवाह में विद्यापठन भी अर्हन्नीति के शब्दों के विस्तृत भावों की अपेक्षा सम्मिलित है (४३)।

माता के अधिकार

यदि पिता की मृत्यु पश्चात बाँट हो तो माता को पुत्रों के समान भाग मिलता है (४४)। वास्तव में उल्लेख तो यह है कि उसे पुत्रों से कुछ अधिक मिलना चाहिए जिससे वह परिवार और कुटुम्ब की स्थिति को बनाये रक्खे (४५)। इस प्रकार यदि ४ पुत्र और एक विधवा जीवित है तो मृतक की सम्पत्ति के ५ समान भाग किये जायँगे जिनमें से एक माता को और शेष चार में से एक एक प्रत्येक भाई को मिलेगा। माता को कितना अधिक दिया जाय इसकी

(४२) भद्र० १०६; वर्ध० ५२।
(४३) वर्ध० ७; अर्ह० २०।
(४४) भद्र० २१; वर्ध० १०, इन्द्र० २७।
(४५) " २१; " १०; अर्ह० २८।

सीमा नियत नहीं है। परन्तु अर्हन्नीति में इस प्रकार उल्लेख है कि पिता के मरण के पश्चात् यदि बाँट हो तो प्रत्येक भाई अपने अपने भाग में से आधा आधा माता को देवें (४६)। इस प्रकार यदि ४ भाई हैं तो प्रत्येक भाई।) चार आना हिस्सा पावेगा और माता का भाग चार आने के अर्धभाग का चौगुना होगा अर्थात् २ × ४ = ८ आना होगा। पिता की जीवनावस्था में माता को एक भाग बाँट में मिलना चाहिए (४७)। पुत्रोत्पत्ति होने से माता एक भाग की अधिकारिणी हो जाती है (४८)। माता का वह भाग उसके मरण पश्चात् सब भाई परस्पर समानता से बाँट लें (४९)।

बहिनों का अधिकार

विभाजित होने के पश्चात् जो सम्पत्ति पिता ने छोड़ी है उसमें भाई और कुँवारी बहिन को समान भाग पाने का अधिकार है। यदि दो भाई और एक बहिन है तो सम्पत्ति तीन समान भागों में बँटेगी(५०)। बड़ा भाई छोटी बहिन का, छोटे भाई की भाँति, पालन करे (५१), और उचित दान देकर उसका विवाह करे (५२)। यदि ऐसी सम्पत्ति बचे जो बाँटने योग्य न हो तो उसे बड़ा भाई ले लेवे (५३)। यह अनुमान होता है कि बहिन का भाग केवल विवाह एवं गुज़ारे निमित्त रक्खा गया है, अन्यथा भाई की उपस्थिति में बहिन का कोई

(४६) अर्ह० २८।
(४७) अर्ह० २७।
(४८) इन्द्र० २५।
(४९) भद्र० २१; वर्ध० १०; अर्ह० २८।
(५०) इन्द्र० २७–२९।
(५१) ” २८।
(५२) ” २९।
(५३) ” ३०।

अधिकार नहीं हो सकता। यदि विभक्त होने के पश्चात् कोई भाई मर जाय तो उसकी पैत्रिक सम्पत्ति को उसके भाई और बहिन समान बाँट लें (५४)। ऐसा उसी दशा में होगा जब मृतक ने कोई विधवा या पुत्र नहीं छोड़ा हो। यहाँ भी बहिन का अर्थ कुँवारी बहिन का है जिसके विवाह और गुज़ारे का भार पैत्रिक सम्पत्ति पर पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसका यह दायत्व सप्रतिबन्ध दायभाग की दशा मेंमान्य नहीं हो सकता अर्थात् उस सम्पत्ति से लागू नहीं हो सकता जो चाचा ताऊ से मिली हो (५४)।

विधवा भावज का अधिकार

विधवा भावज अपने पति के भाग को पाती है और उसको अपने पति के जीवित भाइयों से अपना भाग पृथक् कर लेने का अधिकार है (५५)। यदि वह कोई पुत्र गोद लेना चाहे तो ले सकती है (५६)। परन्तु ऐसे भाई की विधवा का जो पहिले ही अलग हो चुका हो विभाग के समय कोई अधिकार नहीं है। यदि कोई भाई साधू होकर अथवा संन्यास लेकर चला गया है तो उसका भाग विभाग के समय उसकी स्त्री पावेगी (५७)।

विभाग एवं पुनः एकत्र होने के नियम

एक भागाधिकारी के पृथक् हो जाने से सबकी पृथक्ता हो जाती है (५८)। विभाजित होने से पूर्व सब भाई सम्मिलित समझे जाते हैं (५८)। परन्तु विभाग पश्चात् भी जितने भाई

(५४) भद्र० १०६।

(५५) अर्हं० १३१: व बीसनमल ब० हर्षचन्द (अवध) सेलेक्ट केसेज़ नं० ४३ पृ० ३४।

(५६) अर्हं० १३१।

(५७) भद्र० ८५; वर्ध० ४८; अर्हं० ६०।

(५८) अर्हं० १३०।

(५८) अर्हं० १३०।

चाहें फिर सम्मिलित हो सकते हैं (५९)। विभाग पश्चात् यदि कोई भाई और पैदा हो जाय जो विभाग समय माता के गर्भ में था तो वह भी एक भाग का अधिकारी है और विभाग पश्चात् के आय व्यय का हिसाब लगाकर उसका भाग निर्धारित होगा (६०)। सामान्यत: उन पुत्रों को जो विभाग पश्चात् उत्पन्न हुए हों कोई अधिकार पुन: विभाग कराने का नहीं है। वह केवल अपने पिता का भाग पा सकते हैं (६१)। हिन्दू-लॉ में विभाग समय यदि पिता ने अपने निमित्त कोई भाग नहीं लिया है और उसके पश्चात् पुत्र उत्पन्न होवे जिसके पालन-पोषण का कोई आधार नहीं हो तो वह पुत्र अपने पृथक् हुए भाइयों से भाग पाने का अधिकारी है (६२)। अनुमानत: जैन-नीति में भी इन्द्रनन्दि जिन संहिता के २६ वें श्लोक का यही आशय है, विशेष कर जब उसको २७ वें श्लोक के साथ पढ़ा जावे। दोनों श्लोकों को एक साथ पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि इनका सम्बन्ध ऐसी दशा से है कि जब पिता ने अपनी सम्पत्ति कुछ अन्य जनों को दे दी है और शेष अपने पुत्रों में विभक्त कर दी है।

अन्यान्य वर्णों की स्त्रियों की सन्तान में विभाग

यदि ब्राह्मण पिता है और चारों वर्णों की उसकी स्त्रियाँ हैं तो शूद्रा के पुत्र को हिस्सा नहीं मिलेगा (६३)। परन्तु शेष तीन वर्णों

(५९) भद्र० १०४—१०५।

(६०) अर्ह० ३७; इन्द्र० २६।

(६१) " ३६; भद्र० १०६।

(६२) गौड़ का हिन्दू-कोड द्वि० बु० पृ० ७५२; गनपत ब० गोपालराव २३ बम्बई ६३६; चंगामा ब० मुनी स्वामी २० मद्रास ७५; कुछ अंशों में इस सम्मति की पुष्टि प्रीवी कौं० के फैसला मुक़दमा विशनचन्द ब० असमेदा ६ इला० ५६० विशेषत: ५७४—५७५ पृष्ठ से होती है।

(६३) भद्र० ३१—३३; अर्ह० ३८—३९।

की सन्तान में इस प्रकार विभाग होगा कि ब्राह्मणी के पुत्र को चार भाग, क्षत्राणी के पुत्र को तीन भाग और वैश्याणी के पुत्र को दो भाग मिलेंगे (६४)। भद्रबाहु संहिता और अर्हन्नीति, दोनों, में ऐसा उल्लेख है कि विभाज्य सम्पत्ति के दस समान भाग करने चाहिएँ जिनमें से चार ब्राह्मणी के पुत्र को तीन क्षत्राणी के पुत्र को दो वैश्याणी के पुत्र को देने चाहिएँ और एक अवशिष्ट भाग धर्म-कार्य में लगा देना चाहिए (देखो भद्रबाहु संहिता ३३ और अर्हन्नीति ३८, ३९)।

यदि क्षत्रिय पिता हो और उसके क्षत्राणी और वैश्याणी तथा शूद्राणी स्त्रियाँ हों तो शूद्राणी के पुत्र को कुछ भाग नहीं मिलेगा। क्षत्राणी के पुत्र को दो भाग और वैश्याणी के पुत्र को एक भाग मिलेगा (६५)। अर्थात् क्षत्राणी और वैश्याणी के पुत्रों में क्रम से दो और एक की निस्बत में सम्पत्ति के भाग कर दिये जाएँगे। जैन-लॉ के अनुसार उच्च वर्ण के पुरुष द्वारा जो शूद्रा से पुत्र हो उसे भाग नहीं मिलता है (६६)। केवल वह गुज़ारा पाने का अधिकारी है (६७)। या जो कुछ उसका पिता अपनी जीवनावस्था में उसको दे गया हो वह उसको मिलेगा (६८)। इन्द्रनन्दि जिन संहिता का इस विषय में कुछ मतभेद है (देखो श्लोक ३०—३१)। वह ब्राह्मण पिता से जो पुत्र ब्राह्मणी क्षत्राणी और वैश्याणी से हों उनके भागों के विषय में भद्रबाहु व अर्हन्नीति से सह-

(६४) भद्र० ३१—३२; अर्ह० ३८—३९; इन्द्र० ३० ।
(६५) अर्ह० ४०; भद्र० ३५ ।
(६६) " ३९—४१;" ३६; इन्द्र० ३२ ।
(६७) " ३९—४१;" ३६ ।
(६८) भद्र० ३५ ।

मत है (देखो श्लो० ३०)। परन्तु दूसरे श्लोक में यह उल्लेख है कि क्षत्रिय पिता के क्षत्राणी से उत्पन्न हुए पुत्र को तीन भाग और वैश्याणी के पुत्र को दो भाग मिलेंगे, और यह भी उल्लेख है कि वैश्य माता पिता के लड़के दो दो भागों के और शूद्र माता के लड़के एक भाग के अधिकारी हैं (देखो श्लोक ३१)। यदि यही अर्थ ठीक है तो इससे विदित होता है कि शूद्रा माता की सन्तान भी भागाधिकारी कभी गिनी गई थी। अन्यान्य वर्णों में पारस्परिक विवाह का कम हो जाना इस मतभेद का कारण हो सकता है। या शूद्रों के जाति-भेद के कारण यह मतभेद हुआ है। परन्तु स्वयं जिन संहिता ही में शूद्रा स्त्री की सन्तान का अन्ततः दाय से वञ्चित किया जाना ३२ वें श्लोक में मिलता है। वैश्य पिता के पुत्र जो सवर्णा स्त्री से हों पिता की सब सम्पत्ति पावेंगे (६९)। यदि शूद्रा से कोई पुत्र हो तो वह भागाधिकारी न होगा (७०)। शूद्र पिता और शूद्रा माता के पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति बराबर बराबर पावेंगे (७१)।

दासीपुत्रों के अधिकार

जैन-नीति में दासीपुत्रों का कोई अधिकार नहीं है (७२)। परन्तु वे गुज़ारे के अधिकारी हैं (७३)। और जो बाप ने उन्हें अपनी जीवनावस्था में दे दिया है वह उनका है (७४)। उच्च वर्ण-वाले भाई को चाहे वह छोटा ही हो और यदि एक से अधिक हों

(६९) अर्ह० ४१; भद्र० ३६।
(७०) ,, ४१; ,, ३६।
(७१) ,, ४४; ,, ३७।
(७२) भद्र० ३४; और देखो अम्बाबाई ब० गोविन्द २३ बम्बई २५७।
(७३) अर्ह० ४३।
(७४) ,, ४२।

तो सब उच्च वर्णवाले भाइयों को मिलकर उनके पालन पोषण का प्रबंध करना चाहिए (७५)।

यदि किसी शूद्र के दासीपुत्र उत्पन्न हो तो वह विवाहिता स्त्री के पुत्र से अर्ध भाग पायेगा (७६)। इससे यह अनुमान होता है कि विवाहिता स्त्री के पुत्र के अभाव में शूद्र का दासीपुत्र ही उसकी सर्व सम्पत्ति का अधिकारी हो जायगा। उच्च जातियों में दासी-पुत्र का कोई भाग दाय में नहीं रक्खा है (७७)।

अविभाजित सम्पत्ति में अधिकार

आभूषण, गोधन, अनाज और इसी प्रकार की सर्व जङ्गम सम्पत्ति का मुख्य स्वामी पिता होता है (७८)। परन्तु स्थावर सम्पत्ति का पूर्ण स्वामी न पिता होता है न पितामह (७९)। अर्थात् उनको उसके बेचने का अधिकार नहीं है। इसका कारण यह है कि जिस मनुष्य ने संसार में खानेवाले पैदा किये हैं वह उनके पालन पोषण के आधार से उनको वञ्चित नहीं कर सकता।

पितामह के जीवन-काल में उसकी स्थावर सम्पत्ति को कोई नहीं ले सकता। परन्तु जङ्गम द्रव्य आवश्यकतानुसार कुटुम्ब का प्रत्येक व्यक्ति व्यय कर सकता है (८०)। यदि कोई व्यक्ति अपनी पैत्रिक सम्पत्ति में से अपनी बहिन या भानजी को कुछ देना चाहे तो उसका पुत्र उसका विरोध कर सकता है (८१)।

(७५) भद्र० २३।
(७६) अर्ह० ४५।
(७७) अम्बाबाई ब० गोविन्द २३ बम्बई २५७।
(७८) इन्द्र० ४; अर्ह० ६।
(७९) " ४; " ६।
(८०) " ५।
(८१) भद्र० ४५।

पुत्र की सम्मति के बिना पैत्रिक सम्पत्ति के देने का अधिकार पिता को नहीं है (८२)। बाबा की अविभाजित सम्पत्ति भ्रातृवर्ग की सम्मत्ति के बिना किसी को नहीं दी जा सकती है (८३)। न वह पुत्री, दौहित्र, बहन, माता अथवा स्त्री के किसी सम्बन्धी को ही दी जा सकती है (८४)। स्थावर सम्पत्ति और मवेशी भी जो किसी मनुष्य ने पुत्रोत्पत्ति के पूर्व प्राप्त किये हैं, पुत्र होने के पश्चात् उनको बेच या दे नहीं सकता है (८५)। क्योंकि सब बालक जो उत्पन्न हुए हैं या गर्भ में हैं चाहे वे भाग कराने के अधिकारी हों या न हों उसमें से भरण पोषण का सब अधिकार रखते हैं (८६)। हिन्दू-क़ानून के अनुसार जब पुत्र बालिग़ (वयःप्राप्त) हो जाय तो वह पिता की स्वयं उपार्जित सम्पत्ति में से भरण पोषण का अधिकार नहीं माँग सकता, यद्यपि पैत्रिक सम्पत्ति में उसे ऐसा अधिकार है (८७)। यही आशय जैन-क़ानून का भी है। क्योंकि पिता की सम्पत्ति में भी उसकी मृत्यु पश्चात् पुत्र सदा ही अधिकारी नहीं होते, किन्तु विधवा माता और कभी कभी ज्येष्ठ भाई ही उसको पाता है। कुटुम्ब की सब स्थावर सम्पत्ति जात या अजात पुत्रों के या दूसरे उन मनुष्यों के होते हुए जिनको अपना भरण पोषण पाने का अधिकार है, धार्मिक कार्यों, तीर्थयात्रा या मित्रों के सहायतार्थ भी

(८२) भद्र० ६१—६२; अर्ह० ६६।

(८३) अर्ह० ६६; वर्ध० ४६—५१।

(८४) वर्ध० ४६—५१।

(८५) इन्द्र० ६; अर्ह० ८।

(८६) अर्ह० ६—१०।

(८७) गौड़ का हिन्दू कोड द्वि० वृ० पृ० ४७२; अम्मा कन्नू ब० अप्पू ११ मद० ६१।

नहीं दी जा सकती (८८)। यदि कोई अन्य विरोधी न हो तो स्त्री को विरोध करने का अधिकार है, चाहे सम्पत्ति किसी अच्छे कार्य के लिए दे दी जाय या अन्य प्रकार से (८९) क्योंकि कौटुम्बिक सम्पत्ति से उचित प्रकार से भरण पोषण पाने का उसका भी अधिकार है।

माता पिता भाई आदि सब मिलकर सम्पत्ति पृथक् कर सकते हैं (९०)। यदि पुत्र वयःप्राप्त न हो तो पिता योग्य आवश्यकता के लिए उसे (सम्पत्ति को) बेच सकता है या दे सकता है (९१)। जो सम्पत्ति माता ने पिता से विरसे में पाई हो उसमें भी ऐसा ही समझना चाहिए। सन्तान की नाबालग़ी में माता को भी सम्पत्ति के पृथक् करने में वही बाधाएँ पड़ती हैं जो पिता को होती हैं (९१) विभाजित अथवा अविभाजित दोनों प्रकार की सम्पत्तियों में से धार्मिक एवं कौटुम्बिक आवश्यकताओं के लिए पुत्रों की सम्मति बिना भी पिता को व्यय करने का अधिकार है (९२)।

पितामह की सम्पत्ति में, चाहे वह जङ्गम हो या स्थावर, पिता और पुत्र समानाधिकारी है (९३)। पिता की सम्पत्ति का, पौत्र के न होने पर, पुत्र को पूर्ण अधिकार हैं और जिस भाँति वह चाहे उसे व्यय कर सकता है (९४)। क्योंकि ऐसा करने से उसे रोकने-

(८८) इन्द्र० ७-८। जो सम्पत्ति माता को पिता से मिली हो उसमें भरण पोषण पाने का पुत्र को अधिकार है (देखो अर्ह० १२६)।
(८९) वर्ध० ४१; अर्ह० ६६।
(९०) इन्द्र० ८-९।
(९१) अर्ह० ११।
(९२) भद्र० ६२।
(९३) अर्ह० ६७; इन्द्र० २४।
(९४) इन्द्र० २।

वाला कोई नहीं है (९५)। जो जङ्गम द्रव्य माता ने पुत्र को व्यापार या प्रबन्ध करने के लिए दिया हो उसे व्यय कर डालने का पुत्र को अधिकार नहीं है (९६)। माता पिता के जीवन में दत्तक पुत्र को उनकी अथवा बाबा की दोनों प्रकार की सम्पत्ति को पृथक् करने का कोई अधिकार नहीं है (९७)। औरस पुत्र के सम्बन्ध में भी यही नियम है (९८)। परन्तु बाबा की सम्पत्ति में पुत्रों को विभाग कराने का अधिकार है (९९)। पुत्र हों या न हों पिता को अधिकार है कि अपनी मृत्यु के पश्चात् अपनी विधवा के निमित्त तथा सुप्रबन्धार्थ किसी अन्य पुरुष द्वारा अपनी निजी सम्पत्ति का वसीयत के तौर पर प्रबन्ध करावे (१००)।

विभाग के पश्चात् प्रत्येक भागी को अपने भाग के मुन्तिकिल (व्यय) करने का अधिकार है (१०१)। विधवा भी उस सम्पत्ति को, जो उसने पति से पाई हो, चाहे जैसे व्यय कर सकती है, कोई उसको रोक नहीं सकता (१०२)। पतिमरण के पश्चात् यदि सास या श्वसुर ने उसको पुत्र गोद ले दिया है (तो जब तक वह दत्तक पुत्र वयःप्राप्त न हो) वह योग्य आवश्यकताओं अर्थात् धार्मिक कार्यों और कौटुम्बिक भरण पोषण के लिए सम्पत्ति को स्वयं व्यय कर सकती है (१०३)।

(९५) भद्र० ९२।
(९६) भद्र० ६४।
(९७) वर्ध० ४७।
(९८) " १५; अर्ह० ८५।
(९९) देखो विभाग प्रकरण।
(१००) वर्ध० २०-२१; अर्ह० ४६—४८।
(१०१) भद्र० ६२; अर्ह० १२५।
(१०२) अर्ह० ११५ व १२५।
(१०३) भद्र० ११३ व ११७; वर्ध० ३५।

यदि पितामह के जीवन में पौत्र मर जाय तो उसकी सम्पत्ति में उसकी विधवा को, सास और श्वसुर के होते हुए, कोई अधिकार नहीं है (१०४)। श्वसुर की सम्पत्ति में भी विधवा पुत्रवधू को सास के होते हुए कोई अधिकार नहीं है (१०५)। वह जायदाद के व्यय का अधिकार नहीं रखती है किन्तु केवल रोटी कपड़ा पा सकती है (१०६)। तिस पर भी श्वसुर और सास चाहें तो पुत्रवधू को दत्तक लेने की आज्ञा दे सकते हैं (१०७)। विधवा पुत्रवधू उस सम्पत्ति को, जो उसके पति ने अपने जीवनकाल में माता पिता को दे दी है, नहीं पा सकती है (१०८), चाहे उसको अपना निर्वाह उस थोड़ी सी सम्पत्ति में ही करना पड़े जो उसके पति ने उसको दे दी थी (१०९)। क्योंकि भद्र पुरुष उस संपत्ति को वापिस नहीं माँगा करते हैं जो किसी को दे दी गई हो (११०)।

यदि श्वसुर पहिले मर जाय और पीछे पति मरे तो विधवा बहू अपने पति की पूर्ण सम्पत्ति की स्वामिनी होगी (१११)। परन्तु उसको अपनी सास को और कुटुम्ब को गुज़ारा देना उचित है (११२)। ऐसी दशा में सास दत्तक पुत्र नहीं ले सकती है (११३)।

(१०४) भद्र० ६३ व ११३—११४।
(१०५) वर्धं० ३५; अर्हं० १०८; ज़नकुरी ब० बुधमल ५७ ई० केसेज़ २५७।
(१०६) भद्र० ६३; अर्हं० १०२—१०३ व १०८।
(१०७) भद्र० ११६—११७; वर्धं० ३५—३६, ५६।
(१०८) अर्हं० ११२; भद्र० ११५; वर्धं० ५५।
(१०९) भद्र० ११५; वर्धं० ५५।
(११०) ,, ६८; इन्द्र० २६—२७।
(१११) ,, ६५।
(११२) ,, ६३, ६५, ७७।
(११३) ,, ७५।

क्योंकि उस समय सम्पत्ति की स्वामिनी पुत्रवधू है, न कि सास (११४)। श्वसुर की उपार्जित सम्पत्ति में या बाबा की सम्पत्ति में जो श्वसुर के अधिकार में आई हो विधवा पुत्रवधू को व्यय का अधिकार नहीं है (११५), परन्तु अपने मृत पति की स्वयं प्राप्त की हुई सम्पत्ति को व्यय कर देने का अधिकार है (११६)। श्वसुर के मर जाने पर विधवा पुत्रवधू का पुत्र अपने पितामह की सम्पत्ति का स्वामी होता है विधवा पुत्रवधू को केवल गुज़ारे का अधिकार है (११७)। इसलिए यदि पिता पितामह के जीवनकाल में मर गया हो तो विधवा माता अपने श्वसुर की सम्पत्ति को अपने पुत्र की सम्मति बिना व्यय नहीं कर सकती (११८)।

विवाहिता पुत्री का अपने भाइयों की उपस्थिति में पिता की सम्पत्ति में कोई भाग नहीं है (११९)। जो कुछ उसके पिता ने विवाह के समय उसको दे दिया हो वही उसका है (११९)। विवाहिता लड़कियाँ अपनी अपनी माताओं के स्त्रीधन को पाती हैं (१२०)। पुत्री के अभाव में दौहित्री और उसके भी अभाव में पुत्र माता के स्त्रीधन का अधिकारी होता है (१२१)। अविवाहिता पुत्री, एक हो या अधिक, भाइयों की उपस्थिति में पिता की सम्पत्ति में

(११४) भद्र० ७६।
(११५) ,, ६१; अर्ह० १०१—१०२।
(११६) अर्ह० १०२।
(११७) ,, १०३।
(११८) ,, १०१।
(११९) भद्र० २०; अर्ह० २६।
(१२०) इन्द्र० १४।
(१२१) ,, १५।

से गुज़ारे और विवाह-व्यय के अतिरिक्त कोई भाग पाने की अधिकारी नहीं है (१२२)।

विभाग की विधि

प्रथम ही तीर्थंकर भगवान् की पूजा (मन और भावों की शुद्धता के निमित्त) करना चाहिए। इसके पश्चात् कुछ प्रतिष्ठित मनुष्यों के समक्ष अविभाजित सम्पत्ति का अनुमान कर लेना चाहिए और उसमें से पुत्र का भाग निकाल देना चाहिए (१२३)। इसी प्रकार अन्य भाग भी लगा लेने योग्य हैं। यदि पिता ने स्वार्थवश या द्वेष भाव से अपनी स्त्रियों के या अयोग्य दायादों के स्वत्वों की ओर ध्यान नहीं दिया है, या विभाग में कोई अन्याय किया गया है तो वह अमान्य होगा (१२४)। परन्तु यदि विभाग धर्मानुकूल किया गया है तो वह मान्य होगा, चाहे किसी को कुछ कम ही मिला हो (१२५)। वास्तव में विभाग अधर्म और अन्याय से न होना चाहिए (१२५)। ऐसे पिता का किया हुआ विभाग अयोग्य होगा जो अत्यन्त अशान्त, क्रोधी, अति वृद्ध, कामसेवी, व्यसनी, असाध्य रोगी, पागल, जुआरी, शराबी आदि हो (१२६)। यदि बड़ा भाई विभाग करते समय कुछ सम्पत्ति कपट करके छोटे भाइयों से छिपा ले तो वह दण्डनीय होगा और अपने भाग से वञ्चित किया जा सकता है (१२७)। यदि भाइयों में सम्पत्ति

(१२२) भद्र० १६; वर्ध० ६; अर्ह० २९।

(१२३) त्रैव० अध्याय १२ श्लो० ६।

(१२४) इन्द्र० ११-१२।

(१२५) अर्ह० १७।

(१२६) " १८-१६।

(१२७) भद्र० १०७; अर्ह० ११६।

के विभाग के विषय में झगड़ा हो तो नियमानुसार न्यायालय अथवा पञ्चायत द्वारा निर्णय करा लेना चाहिए (१२८)। यदि विभाग के विषय में कोई सन्देह उत्पन्न हो (जैसे कौन कौन सी जायदाद किस किस अधिकारी ने पाई) तो ऐसी दशा में पञ्चों या न्यायालय के समक्ष मौखिक अथवा लिखित साक्षी द्वारा निर्णय करा लेना चाहिए (१२९)। प्रथम ऋण चुका देना चाहिए, या ऋण चुकाने के लिए प्रबंध करके शेष सम्पत्ति के भाग कर लेना चाहिए (१३०)। वस्त्र, आभूषण, खत्तियाँ और इसी प्रकार की दूसरी वस्तुएँ विभाज्य नहीं हैं (१३१)। ऐसी वस्तुओं का भी, जैसे कुआँ, भाग नहीं करना चाहिए (१३२)। मवेशियों का पूरा पूरा भाग करना चाहिए न कि टुकड़ों या हिस्सों में (१३३)। भाग करने से पूर्व छोटे भाइयों का विवाह कर देना उचित है या उनके विवाह निमित्त धन का प्रबन्ध करके विभाग करना चाहिए (१३४)। यदि एक या अधिक छोटी बहिनें हों तो प्रत्येक भाई को अपने भाग का चतुर्थांश उनके विवाह के लिए अलग निकाल देना चाहिए (१३५)। वर्धमान नीति और अर्हन्नीति में यह नियम है। भद्रबाहु संहिता में भी ऐसा ही नियम है परन्तु उसमें केवल सहोदर बहिनों का

(१२८) अर्ह० १४।

(१२९) " १२६।

(१३०) भद्र० १११; अर्ह० १६।

(१३१) भद्र० ११२।

(१३२) " ११२; इन्द्र० २२।

(१३३) " ११२।

(१३४) वर्ध० ७; अर्ह० २०।

(१३५) " ६; " २०, २५।

उल्लेख है (१३६)। यदि किसी मनुष्य ने कौटुम्बिक स्थावर सम्पत्ति को जो पिता के समय में जाती रही हो पुनः प्राप्त कर लिया हो तो उसको अपने साधारण भाग से अधिक चतुर्थ भाग और मिलना चाहिए (१३७)। परन्तु ऐसी दशा में वह समस्त जङ्गम सम्पत्ति का स्वामी होगा (१३८)। किसी भागाधिकारी के गहने कपड़े और ऐसी ही दूसरी वस्तुएँ बाँटी नहीं जायँगी (१३९)। भाग इस प्रकार से करना चाहिए कि किसी अधिकारी को असन्तोष न हो (१४०)। यदि कोई भाई संसार त्याग करके साधु हो जाय तो उसका भाग उसकी स्त्री को मिलेगा (१४१)।

जब कोई मनुष्य संसार त्यागना चाहे तो उसे सबसे प्रथम तीर्थंकर देव की पूजा करनी उचित है। पुनः प्रतिष्ठित पुरुषों के सामने अपनी सर्व सम्पत्ति अपने पुत्र को दे देनी चाहिए। या वह अपनी सम्पत्ति के तीन बराबर भाग कर सकता है जिनमें से एक भाग धार्मिक कार्य तथा दानादिक के लिए दूसरा परिजनों के निर्वाह के लिए निश्चित करके तीसरा भाग सब पुत्रों में बराबर बराबर बाँट दे (१४२)। उसको यह भी उचित है कि अपने बड़े पुत्र को छोटे पुत्रों का संरक्षक नियुक्त कर दे (१४३)।

(१३६) भद्र० १६।
(१३७) इन्द्र० २०; यह नियम मिताक्षरा में भी पाया जाता है।
(१३८) वर्ध० ३७–३८; अर्ह० १३४–१३६।
(१३९) इन्द्र० २१।
(१४०) " ३९; अर्ह० १४।
(१४१) अर्ह० ६०; भद्र० ८४; वर्ध० ४८।
(१४२) त्रैव० अध्याय १२ श्लोक १३–१६।
(१४३) " " १२ " १६–१८।

चतुर्थ परिच्छेद

दाय

जैन-लॉ के अनुसार दायाद का क्रम निम्न प्रकार है—

(१) विधवा।

(२) पुत्र।

(३) भ्राता।

(४) भतीजा।

(५) सात पीढ़ियों में सबसे निकट सपिण्ड (१)।

(६) पुत्री।

(७) पुत्री का पुत्र।

(८) निकटवर्ती बंधु।

(९) निकटवर्ती गोत्रज (१४ पीढ़ियों तक का)।

(१०) ज्ञात्या।

(११) राजा।

यह क्रम इन्द्रनन्दि जिन संहिता में दिया गया है (देखो श्लो० ३५—३८)। वर्धमान नीति में भी यही क्रम कुछ संकोच से दिया है (देखो श्लो० ११—१२)। इन्द्रनन्दि जिन संहिता में बंधू गोत्रज ज्ञात्या* और राजा को लौकिक रिवाज के अनुसार दायाद माना है (देखो श्लो० ३७—३८)। इसी पुस्तक के श्लोक १७—१८ में भी

(१) सपिण्ड का अर्थ सात पीढ़ियों तक के सम्बन्धी से है।

* ज्ञात्या (जातवाले) का भाव अनुमानतः ऐसे पुरुष का भी हो सकता है जो माता द्वारा सम्बन्ध रखता हो। कारण कि प्रारम्भ में ज्ञाति का अर्थ माता के पक्ष का था जैसा कि कुल का अर्थ पिता के कुटुम्ब का था।

दायाद का क्रम कुछ थोड़े से हेर फेर और संक्षेप से बताया है। वह इस प्रकार है—१–सबसे बड़ी विधवा, २—पुत्र, ३—सवर्णा माता से उत्पन्न भतीजा, ४—दोहिता, ५—गोत्रज, ६—मृतक की जाति का कोई छोटा बालक (२) (जिसे उसके पुत्र की विधवा दत्तक लेवे)। अर्हन्नीति इस क्रम से पूर्णतया सहमत है (देखो श्लो० ७४—७५)। उसका क्रम इस प्रकार है—प्रथम विधवा, पुनः पुत्र, पुनः भतीजा, पुनः सपिण्ड, पुनः दोहिता, पुनः बंधु का पुत्र, फिर गोत्रज, इन सबके अभाव में ज्ञात्या, और सबके अन्त में राजा दायाद होता है।

दायादों में स्त्री का स्थान पुत्र से पहिले है (३)। स्त्री की सम्पत्ति का, जो स्त्रीधन न हो, प्रथम दायाद उसका पति फिर पुत्र (४) होता है। पुत्र के पश्चात उसके पति के भाई भतीजे (स्वयं उसके नहीं) क्रम से दायाद होते हैं। निकटवर्ती दायाद के होते दूरवर्ती को अधिकार नहीं है; अतएव भाई का सद्भाव भतीजों को दायभाग से वञ्चित कर देता है (६)। इसी नीति से मृतक का पिता भाई से पहिले दाय का अधिकारी होगा, जैसे हिन्दू-लॉ में भी बताया है। पुत्र शब्द में क़ानूनी परिभाषा के अनुसार पौत्र और अनुमानतः पर-पौत्र भी अंतर्गत हैं (७), जैसा हिन्दू-लॉ में भी है (देखो सुन्दरजी

---

(२) इसका शब्दार्थ भाव ७ वर्ष की आयु के पति के छोटे भाई का है। ऐसा ही भाव अर्हन्नीति में मिलता है देखो अर्हन्नीति श्लो० ५६ (जहाँ दत्तक का सम्बन्ध है)।

(३) भद्र० ११०; अर्ह० ११२।

(४) अर्ह० ११५–११७; भद्र० ८७।

(५) ,, ११५–११७; ,, ८०; और देखो अर्ह० ५५ जहाँ विधवा के भाई के पुत्र को गोद लेने का भावार्थ पति के भतीजे का है।

(६) इन्द्र० ३६।

(७) अर्ह० ८७; इन्द्र० २५।

दामजी ब० दाड़ीबाई २९ बम्बई ३१६)। यदि पुत्र अपने पिता के शरीक है और सम्पत्ति बाबा की है तो उसमें उसका अधिकार है। विभाग के पश्चात् विभाजित पिता की सम्पत्ति का माता के होते हुए वह स्वामी नहीं हो सकता। क्योंकि उसकी माता ही उसकी अधिकारिणी होगी। यदि माता पिता दोनों मर जावें तो औरस वा दत्तक जैसा पुत्र हो वही दायाधिकारी होगा (८)।

किसी मनुष्य के बिना पुत्र के मर जाने पर उसकी विधवा उसकी सम्पत्ति की सम्पूर्ण अधिकारिणी होती है (९), चाहे

---

(८) भद्र० ३० ।

(९) ,, ६५; अर्ह० ११५ व १२५, तथा निम्नलिखित नजीरें—

क—मदनजी देवचन्द ब० त्रिभवन वीरचन्द १२ इ० के० ८९२ = बम्बई-लॉ रिपोर्टर १३ पृ० ११२१ ।

ख—मदनजी ब० त्रिभवन ३६ बम्बई ३९६ ।

ग—शिम्भूनाथ ब० ज्ञानचन्द १६ इला० ३७९; परन्तु इस मुकदमे में अपने पति की सम्पत्ति की वह पूर्ण स्वामिनी करार दी गई थी, न कि बाबा की सम्पत्ति की। इस मुकदमे का उल्लेख ९६ इ० के० पृ० ६३९ = २४ इ० ला० ज० पृ० ७५१ पर आया है।

घ—धीसनमल ब० हर्षचन्द (सन् १८८१) सेलेक्ट केसेज ४३ (अवध)।

ङ—बिहारीलाल ब० सुखवासीलाल (सन् १८६५ का अप्रकाशित फ़ैसला) उल्लिखित सिलेक्ट केसेज अवध पृ० ३४ व ६ एन० डब्ल्यु० पी० हाईकोर्ट रिपोर्ट ३९२—३९८ (इसमें यह निर्णय हुआ है कि विधवा को पत्ति की अविभाजित मौरूसी (बाबा की) सम्पत्ति के, पति के भाइयों के विरोध में भी, बेचने का अधिकार है।

च—हूलन राय ब० भवानी (सन् १८६४ अप्रकाशित) से० के० अवध पृ० ३४ में इसका उल्लेख है। इसमें करार दिया गया है कि पुराने रिवाज और बिरादरी के व्यवहार के अनुसार विधवा का

सम्पत्ति विभाजित हो चाहे अविभाजित हो (देखो इन्द्रनन्दि जिन-संहिता श्लो० १५)। पति के भाग की पुत्र की उपस्थिति में भी वह पूर्ण स्वामिनी होती है (देखो अर्हन्नीति ५४)। यदि श्वसुर पहिले मर जाय और पति का पीछे कालान्त हो तो वह अपने पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति की अधिकारिणी होगी (१०)। यदि वह पुत्री के प्रेमवश पुत्र को गोद न ले और पुत्री को अपनी दायाद नियुक्त करे तो उसके मरने पर उसकी सम्पत्ति की अधिकारिणी उसकी पुत्री होगी, न कि उस (विधवा) के पति के कुटुम्बी जन। और उस पुत्री की मृत्यु के पश्चात् भी वह सम्पत्ति उसके पिता के कुटुम्बी जनों को नहीं पहुँचेगी, किन्तु उसके पुत्र को मिलेगी यदि पुत्र न हो तो उसके पति को (११)। इसका कारण यह है कि पुत्री भी पूर्ण अधिकारिणी ही होती है;

मौरूसी अविभाजित स्थावर धन पर अपने पति की जङ्गम सम्पत्ति के अनुसार ही पति के समान पूर्ण अधिकार होता है।

छ—शिवसिंह राय ब० मु० दाखो ६ एन० डब्ल्यु० पी० हा० रि० ३८२ और अपील का फैसला १ इला० पृ० ६८८ प्री० कौ० जिसमें सम्बन्ध पति की निजी सम्पत्ति का है।

ज—हरनाभ राय ब० मण्डलदास २७ कल० ३७९। इसमें पति की निजी सम्पत्ति का सम्बन्ध है। परन्तु अदालत ने पति की निजी सम्पत्ति और मौरूसी जायदाद में भेद मानना अस्वीकार किया।

झ—सोमचन्द सा० व मोतीलाल सा० इन्दौर हाईकोर्ट इकतदाई मु० नं० ६ सन् १९१४ जो मि० जुगमन्दर लाल जैनी के जैन लॉ में छपा है।

ञ—मौजीलाल ब० गोरी बहू, अप्रकाशित, उल्लिखित ७८ इंडि० के० ४६१–४६२. किन्तु इसमें बेवा को पति की निजी सम्पत्ति की पूर्ण स्वामिनी माना है।

(१०) भद्र० ६५।

(११) ,, ६५–६७; अर्ह० ११५–११७।

भावार्थ जब वह मरती है तब उत्तराधिकार उससे प्रारम्भ होता है और सम्पत्ति उसके कुटुम्ब में रहती है, अर्थात् जिस कुटुम्ब में वह ब्याही है, पुन: उसके माता पिता के कुटुम्बियों को नहीं लौटती (१२)।

जमाई, भाञ्जा और सास जैन-लॉ में उत्तराधिकारी नहीं हैं (१३)। व्यभिचारिणी विधवा का कोई अधिकार दाय का नहीं होता केवल गुज़ारा पा सकती है (१४)। जैन-लॉ में लड़के की बहू भी दायाद नहीं है (१५)।

जिस व्यक्ति के और कोई दायाद न हो; केवल एक पुत्री छोड़कर मरा हो तो अपने पिता की सम्पत्ति की वह पूर्ण स्वामिनी होगी (१६)। उसके मरने पर उसके अधिकारी, उसके पुत्रादि, उस सम्पत्ति के अधिकारी होंगे (१७)। यदि किसी मनुष्य के कोई निकट अधिकारी नहीं है केवल दोहिता हो तो उसकी पूर्ण सम्पत्ति का अधिकारी दोहिता होगा, क्योंकि नाना और दोहिते में शारीरिक सम्बंध है (१८)। माता का स्त्री-धन पुत्री को मिलता है चाहे विवाहिता हो (१९) वा अविवाहिता (२०)। इस विषय में भद्रबाहुसंहिता

(१२) भद्र० ६७; अर्ह० ११७; परन्तु देखो छोटेलाल ब० छुन्नूलाल, ४ कल० ७४४ प्री० कौं० जिसमें हिन्दू-लॉ के अनुसार दूसरी भांति का निर्णय हुआ।

(१३) अर्ह० ११८।

(१४) " ७६।

(१५) वर्ध० ३५; अर्ह० १०८; ज़नकूरी ब० बुधमल ५७ इंडि० के० २५२।

(१६) भद्र० २४; अर्ह० ३२।

(१७) " २४; " ३२।

(१८) अर्ह० ३३—३४; भद्र० २७—२८।

(१९) " ३३; भद्र० २७।

(२०) भद्र० २७।

और अर्हन्नीति में कोई मतभेद नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अर्हन्नीति की नीयत अविवाहित पुत्री को वञ्चित रखने की नहीं हो सकती है जब कि अविवाहित पुत्री को विवाहित पुत्री के मुक़ाबले में सब जगह प्रथम स्थान दिया गया है। अविवाहित पुत्री का स्त्री-धन उसकी मृत्यु होने पर उसके भाई को मिलता है (२१)। विवाहिता पुत्रियाँ अपनी अपनी माताओं का स्त्री-धन पाती हैं (२२)। यदि कोई पुत्री जीवित न हो तो उसकी पुत्री और उसके अभाव में मृतक स्त्री का पुत्र अधिकारी होगा (२३)। विवाहिता पुत्री के स्त्री-धन का स्वामी उसके पुत्र के अभाव में उसका पति होता है (२४)। स्त्री-धन के अतिरिक्त विधवा की अन्य सम्पत्ति का अधिकारी उसका पुत्र होगा (२५)। यदि एक से अधिक विधवाएँ हों तो उन सबकी सम्पत्ति का अधिकारी (उनके पति का) पुत्र होगा (२६)। यह पूर्व कथन किया जा चुका है कि यदि विधवा अपनी प्रिय पुत्री के स्नेह वश दत्तक न ले तो उसकी सम्पत्ति की अधिकारिणी वह पुत्री होगी न कि उसके पति के भाई भतीजे (२७)। यह अधिकार वसीयत के रूप में है जिसके बमूजिब विधवा अपनी सम्पत्ति की अधिकारिणी किसी पुत्री-विशेष को बनाती है। क्योंकि विधवा जैन-नीति के अनुसार पूर्ण स्वामिनी होती है और वह अपनी सम्पत्ति चाहे जिसको अपने जीवन-काल में तथा

(२१) अर्ह० १२८।
(२२) इन्द्र० १४।
(२३) " १५।
(२४) भद्र० २६; वर्ध० १३; अर्ह० ३५।
(२५) " २१; " १०; " २८।
(२६) " ४०।
(२७) " ६६—६८; अर्ह० ११५—११७।

मृत्यु-पश्चात् के लिए दे सकती है। जैन क़ानून के अनुसार स्त्री-धन के अतिरिक्त स्त्री की सम्पत्ति उसके भाई भतीजों या उनके सम्बन्धियों को नहीं मिलती है किन्तु उसके पति के भाई भतीजों को मिलती है (२८)। यह नियम भद्रबाहु संहिता के अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि जिसके अनुसार पुत्री के दायाद नियुक्त किये जाने पर पति के भाई भतीजे दाय से वञ्चित हो जाते हैं (२९)।

विभाजित भाई के मरने पर उसकी विधवा अथवा पुत्र के अभाव में उसकी सम्पत्ति उसके शेष भाइयों में बराबर बराबर बाट ली जायगी (३०)। परन्तु यदि पुत्र होगा तो वही अधिकारी होगा (३१)। यदि उसने कोई निकट-सम्बन्धी नहीं छोड़ा है तो उसकी सम्पत्ति का अधिकार पूर्वोक्त क्रमानुसार होगा (३२)।

यदि किसी मनुष्य के पुत्र नहीं है तो जायदाद प्रथम उसकी विधवा को, पुनः मृतक की माता को (यदि जीवित हो) मिलेगी (३३)। भावार्थ यह है कि पुत्र के पश्चात् माता अधिकार-क्रमानुसार दूसरी उत्तराधिकारिणी है। अर्थात् विधवा और पुत्र दोनों के अभाव में सम्पत्ति मृतक की माता को मिलेगी (३४)। यदि विधवा शीलवती है तो उसके पुत्र हो या न हो वह अपने पति की सम्पत्ति की पूर्ण अधिकारिणी होगी (३५)। दायभाग की नीति

(२८) अर्हं० ८१—८२।
(२९) भद्र० ९६—९७।
(३०) इन्द्र० ४०।
(३१) " ३९; वर्ध० ११; अर्हं० ७४।
(३२) " ४१।
(३३) भद्र० ११०; अर्हं० ११२।
(३४) भद्र० ११०; अर्हं० ११२।
(३५) वर्ध० १४; " ५४।

जो किसी व्यक्ति की मृत्यु पर लागू होती है वही मनुष्य के लापता, पागल और संसार-विरक्त हो जाने पर लागू होती है (३६)। जब किसी व्यक्ति का कुछ पता न चले तो उसकी सम्पत्ति की व्यवस्था वर्तमान समय में सरकारी क़ानून-शहादत के अनुकूल होगी, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जिसका सात वर्ष तक कुछ पता न लगे मृतक मान लिया जाता है। केवल असाध्य पागलपने की दशा में ही अधिकार का प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, किन्तु पागल की व्यवस्था अब सरकारी क़ानून ऐक्ट नं० ४ सन् १९१२ के अनुसार होगी। और पागल के जीवन-काल में दाय अधिकार प्राप्त करने का प्रश्न नहीं उठेगा।

दाय-सम्बन्धी सर्वविवादास्पद विषय क़ानून या स्थानीय रिवाज के अनुसार (यदि कोई हो) न्यायालयों द्वारा निर्णय करा लेने चाहिएँ जिससे पुनः झगड़ा न होने पावे (३७)।

यदि किसी पुरुष के एक से अधिक स्त्रियाँ हों तो सबसे बड़ी विधवा अधिकार पाती है और कुटुम्ब का भरण-पोषण करती है (३८)। परन्तु यह नियम स्पष्ट नहीं है; अनुमानतः यह नियम राज्य एवं अन्य अविभाज्य सम्पत्ति सम्बन्धी प्रतीत होता है। साधारणतः जैन-नीति का आशय यह प्रतीत होता है कि सब विधवाएँ अधिकारी हों और प्रबन्ध कम से कम उस समय तक बड़ी विधवा करे जब तक कि वह सब एक दूसरे से राज़ी रहें।

यदि किसी की अनेक स्त्रियों में से किसी के पुत्र हो तो वह सबका अधिकारी होगा (३९)। अर्थात् वह अपनी माता

(३६) अर्ह० ५३ व ९१।

(३७) इन्द्र० ३७—३८।

(३८) " १७।

(३९) भद्र० ४०; अर्ह० ९८।

अथवा सौतेली सब माताओं की सम्पत्ति को जब जब वह मरेंगी पावेगा (४०)।

राजा का कर्त्तव्य

यदि किसी मनुष्य का उत्तराधिकारी ज्ञात न हो तो राजा को तीन वर्ष पर्यन्त उसकी सम्पत्ति सुरक्षित रखनी चाहिए, और यदि इस बीच में कोई व्यक्ति उसको आकर न माँगे तो उसे स्वयं ले लेना चाहिए (४१)। किन्तु उस द्रव्य को धार्मिक कार्यों में खर्च कर देना चाहिए (४२)। इन्द्रनन्दि जिन संहिता में यह नियम ब्राह्मणीय सम्पत्ति के सम्बन्ध में उल्लिखित है (४३)। क्योंकि ब्राह्मण की सम्पत्ति को राजा ग्रहण नहीं कर सकता है (४४)। परन्तु वर्धमान नीति में यह नियम सर्व वर्णों की सम्पत्ति के सम्बन्ध में है कि राजा को ऐसा धन-धर्म कार्यों में लगा देना उचित है (४४)। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण की सम्पत्ति को उसकी विधवा वा अन्य दायादों के अभाव में कोई ब्राह्मण ही ग्रहण कर सकेगा (४५)।

---

(४०) अर्ह० ६८।
(४१) वर्ध० ५७; इन्द्र० ३६।
(४२) अर्ह० ७४–७५; वर्ध० ११–१२।
(४३) इन्द्र० ३६।
(४४) वर्ध० १२; इन्द्र० ३६।
(४५) इन्द्र० ४०।

पञ्चम परिच्छेद

स्त्री-धन

निम्नलिखित पाँच प्रकार की सम्पत्ति स्त्री-धन होती है (१)—

१—अध्यग्नि—जो कुछ अग्नि और ब्राह्मणों की साक्षी में लड़की को दिया जाता है, अर्थात् वह आभूषण इत्यादि जो पुत्री को उसके माता-पिता विवाह समय देते हैं (२)।

२—अध्याहवनिक—(लाया हुआ) जो द्रव्य वधू अपने पिता के घर में अपने पिता और भाइयों के सम्मुख लावे (३)।

३—प्रातिदान—जो सम्पत्ति श्वसुर और सासु वधू को विवाह-समय देते हैं (४)।

४—औदयिक (सौदयिक)—जो सम्पत्ति विवाह के पश्चात् माता पिता या पति से मिले (५)।

५—अन्वाध्यय—जो वस्तुएँ विवाह-समय अपनी या पति के कुटुम्ब की स्त्रियों ने दी हों (६)।

---

(१) भद्र० ८०; वर्ध० ३६—४५ ।

(२) ,, ८५; ,, ४०; अर्ह० १३८ ।

(३) ,, ८६; ,, ४१; ,, १३९ ।

(४) ,, ८७; ,, ४२; ,, १४० ।

(५) ,, ८८; ,, ४३; ,, १४१ ।

(६) ,, ८९; ,, ४४; ,, १४२ ।

संक्षेपत: वधू को जो कुछ विवाह समय मिलता है वह सब उसका स्त्री-धन है (७)।

और विवाह के पश्चात् सब कपड़े और गहने जो उसको उसके कुटुम्बी जन या श्वसुर के परिवार-जन देते हैं वह सब स्त्री-धन है (८)। इसी भाँति गाड़ी और घोड़े की भाँति के पदार्थ भी स्त्री-धन हैं (९)। जो कुछ गहने, कपड़े कोई स्त्री अपने लिए अपने विवाह के समय पाती है और सब जङ्गम सम्पत्ति जो पति उसको दे वह सब उसका स्त्रीधन है (१०)। और वह स्वयं ही उसकी स्वामिनी है (११)। किन्तु वह किसी स्थावर-सम्पत्ति की स्वामिनी नहीं है जो उसे उसके पति ने दी हो (१२)। यदि पति ने कोई गहने उसके लिए बनने को दे दिए हों जिनके बनने के पहिले वह (पति) मृत्यु को प्राप्त हो जाय तो वह भी उसका स्त्री-धन होंगे (१३)। क्योंकि पति यदि द्रव्य उसको दे देता और वह स्त्री स्वयं गहने बनने को देती तो वही उसकी स्वामिनी होती न कि पति।

स्त्री-धन पैत्रिक सम्पत्ति की भाँति विभाग योग्य नहीं है (१४)। पिता के किसी कुटुम्बी को कोई ऐसी वस्तु पुन: ग्रहण नहीं करनी चाहिए जो उन्होंने विवाहिता पुत्री को दे दी हो या जो उसके

(७) वर्ध० ३९—४०; अर्ह० १३६—१३७; इन्द्र० ४६।

(८) अर्ह० १३६—१३७।

(९) इन्द्र० ४७।

(१०) वर्ध० ५४; इन्द्र० ३।

(११) अर्ह० १४३—१४४; वर्ध० ४५।

(१२) इन्द्र० ३।

(१३) अर्ह० १४४।

(१४) अर्ह० १४३—१४४; इन्द्र० ४८।

श्वसुर के लोगों से उसको मिली हो (१५)। अकाल के समय अथवा धार्मिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त और समय पर उसके स्त्री-धन को कोई अर्थात् पति भी नहीं ले सकता (१६)। धार्मिक कार्यों में दिन-चर्या की पूजा इत्यादि सम्मिलित नहीं हैं। उससे केवल उस आवश्यकता का अर्थ है जो जाति वा धर्म पर आई हुई आपत्ति के टालने के निमित्त हो। पत्नी का स्त्री-धन पति उस समय भी ले सकता है जब वह कारागार में हो (१७)। परन्तु वह स्त्री-धन को उसी दशा में ले सकता है जब उसके पास कोई और सम्पत्ति न हो (१८)। तो भी यदि पति स्त्री-धन को लेने पर बाध्य हो जावे और उसको वापिस न दे सके तो वह उसे पुनः देने के लिए बाध्य नहीं है (१९)।

स्त्री को अपने स्त्री-धन के व्यय करने का अपने जीवन में पूर्ण अधिकार है (२०)। वह उसको अपने भाई-भतीजों को भी दे सकती है (२१)। ऐसा दान साक्षी द्वारा होना चाहिए (२१)। परन्तु यह नियम आवश्यकीय नहीं है। यदि इस विषय पर कोई झगड़ा उठे तो उसका निर्णय पंचायत या न्यायालय द्वारा होगा (२२)।

स्त्री के मरण पश्चात् उसका स्त्री-धन उसके निकट सम्बन्धियों अर्थात् पुत्री, दोहिता और दोहित्रियों के अभाव में उसके पुत्र को

---

(१५) अर्ह० ८१।
(१६) भद्र० ६०; वर्ध० ४५-४६।
(१७) अर्ह० १४५।
(१८) " १४५।
(१९) वर्ध० ४६; अर्ह० १४५।
(२०) इन्द्र० ४९-५१।
(२१) " ४९-५०।
(२२) " ५०-५१।

मिलेगा और उसकी बहिन की पुत्री को भी मिल सकता है (२३)। यदि स्त्री संतान-हीन मर जाय तो उसका धन पति को मिलेगा (२४)। विवाहिता पुत्रियाँ अपनी-अपनी माताओं के स्त्री-धन को पाती हैं (२५)। विवाहिता स्त्री का स्त्री-धन उसके पिता तथा पिता के कुटुम्बी जनों को नहीं लेना चाहिए (२६)।

---

(२३) इन्द्र० १५ व ४६।
(२४) भद्र० २६; वर्ध० १३।
(२५) इन्द्र० १४।
(२६) अर्ह० ८१।

षष्ठ परिच्छेद

भरण-पोषण (गुज़ारा)

निम्नाङ्कित मनुष्य भरण-पोषण पाने के अधिकारी हैं—

१—जीवित तथा मृतक बालक (१), अर्थात् जीवित बालक और मृतक पुत्रों की सन्तान तथा विधवाएँ, यदि कोई हों।

२—वह मनुष्य जो भागाधिकार पाने के अयोग्य हों (२)।

३—सबसे बड़े पुत्र के सम्पत्ति पाने की अवस्था में अन्य परिवार (३)।

४—अविवाहिता पुत्रियाँ और बहिनें (४)।

५—विभाग होने के पश्चात् उत्पन्न हुए भाई जब कि पिता की सम्पत्ति पर्याप्त न हो (५)। परन्तु ऐसी दशा में केवल विवाह करा देने तक का भार बड़े भाइयों पर होता है। विवाह में स्वभावतः कुमार अवस्था का विद्याध्ययन और भरण पोषण भी शामिल समझना चाहिए।

६—विधवा बहुएँ उस अवस्था में जब वह सदाचारिणी और शीलवती हों (६)।

---

(१) अर्ह० ६।
(२) ,, ६; भद्र० ७०; इन्द्र० १३—१४, ४३; वर्ध० ५३।
(३) ,, २४; ,, १००।
(४) भद्र० १६; इन्द्र० २६; वर्ध० ६।
(५) ,, १०६।
(६) अर्ह० ७७।

७—ऐसी विधवा माता जिसको व्यभिचार के कारण दायभाग नहीं मिला हो (७)।

८—तीनों उच्च वर्णों के पुरुषों से जो शूद्र स्त्री के पुत्र हों (८)।

९—माता (९) और पिता जब वह दायभाग के अयोग्य हों (९)।

१०—दासीपुत्र (१०)

सम्पत्ति पानेवाले का कर्तव्य है कि वह उन मनुष्यों का भरण पोषण करे जो गुज़ारा पाने के अधिकारी हों (११)। सामान्यतः सब बच्चे चाहे वह उत्पन्न हो गये हों अथवा गर्भ में हों और सब मनुष्य जो कुटुम्ब से सम्बन्ध रखते हैं कौटुम्बिक सम्पत्ति में से भरण-पोषण पाने के अधिकारी हैं (१२)। और परिवार की पुत्रियों के विवाह भी उसी सम्पत्ति से होने चाहिएँ (१३)। वयःप्राप्त पुत्र भरण पोषण के अधिकारी नहीं हैं चाहे वह अस्वस्थ ही हों (१४)। जो युवतिया विवाह द्वारा अपने परिवार में आ जावें (अर्थात् बहुएँ) वह सब भरण-पोषण पाने का अधिकार रखती हैं, चाहे उनके सन्तान हो अथवा न हो; परन्तु उसी अवस्था में कि उनके पति सम्मि-

(७) अर्ह० ७६।

(८) ,, ६६; वर्ध० ४।

(९) भद्र० ६५ व ७७; और वह प्रमाण जो दायभाग से वञ्चित रहने के सिलसिले में दर्ज हैं।

(१०) इन्द्र० ३५; अर्ह० ४३; भद्र० ३४।

(११) ,, १३—१४; भद्र० ७४ व ९८।

(१२) अर्ह० १०।

(१३) इन्द्र० २९, अर्ह० २०; भद्र० ११ व १०९; वर्ध० ९।

(१४) प्रेमचन्द पिपारा व० हुलासचन्द पिपारा १२ विक्ली रिपोर्टर ४९४।

लित रहते हों (१५)। यदि उनमें से कोई व्यभिचारिणी है तो घर से निकाल दी जायगी (१६)। किन्तु यदि विधवा माता व्यभिचार सेवन करती है तो भी उसके पति के भाई-भतीजे और पुत्र पर उसके भरणपोषण का दायित्व होगा; परन्तु वह दाय की भागी न होगी (१७)।

माता के गुज़ारे में वह व्यय भी सम्मिलित होगा जो उसे धार्मिक क्रियाओं के लिए आवश्यक हो (१८)। भावार्थ तीर्थ-यात्रा आदि धार्मिक आवश्यकताओं के लिए पुत्र तथा विधवा पुत्र-वधू से, जिसके हस्तगत सम्पत्ति हो, विधवा माता ख़र्चा पाने की अधिकारिणी है।

पुत्रियों के विवाह-व्यय की सीमा के सम्बन्ध में कुछ मत-भेद है जो अनुमानतः इस कारण से है कि कोई नित्य और अविचल नियम इस विषय में नियुक्त नहीं हो सकता जिसका व्यवहार प्रत्येक अवस्था में हो सके। भद्रबाहु संहिता के अनुसार सब भाइयों को अपने अपने भाग का चतुर्थांश सहोदर बहिनों की शादी के लिये अलग निकाल देना चाहिए (१९)। वर्धमान नीति तथा अर्हन्नीति दोनों में यही नियम मिलता है (२०)। परन्तु इन्द्रनन्दि जिन संहिता के अनुसार यदि दो भाई और एक अविवाहिता बहिन हों तो दाय-सम्पत्ति के तीन समान भाग करने चाहिएँ (२१) यदि यह भाग

(१५) अर्ह० ७७।
(१६) ,, ७७।
(१७) ,, ७६।
(१८) भद्र० ७७।
(१९) ,, १९।
(२०) वर्धं० ९; अर्ह० २५।
(२१) इन्द्र० २९।

समान हैं तो पुत्री को सर्व सम्पत्ति का एक तिहाई मिलेगा। परन्तु इसका आशय यह मालूम पड़ता है कि विवाह के व्यय का अनुमान सामान्यत: इसके ही सीमान्तर होगा। दासीपुत्रों के भरण-पोषण की सीमा उनके पिता की सम्मति पर है जब तक वह जीवित है (२२)। और पिता के पश्चात् वह असली पुत्रों से अर्धभाग तक पा सकते हैं, यदि पिता ने उनके गुज़ारे का कोई अन्य प्रबन्ध न कर दिया हो (२३)।

यदि किसी विधवा ने कोई पुत्र गोद लेकर उसी को अधिकार दे दिया है तो वह गुज़ारा पाने तथा दत्तक की कुमारावस्था में उसकी संरक्षिका होने की अधिकारिणी होगी (२४)। पुत्र भी माता से गुज़ारे का अधिकारी है (२५)। यह अनुमानत: तभी होगा जब कि पिता की सम्पत्ति माता ने पाई हो। तो भी सद्व्यवहार के अनुसार माता अपने बच्चों का भरण पोषण करने पर बाध्य ही है, यदि वह ऐसा करने की सामर्थ्य रखती हो।

---

(२२) इन्द्र० ३४।

(२३) ,, ३४—३५।

(२४) शिवसिंह राय ब० दाखो ६ एन० डब्ल्यु० पी० हाईकोर्ट रिपोर्ट ३८२।

(२५) अर्ह० १२६।

सप्तम परिच्छेद

संरक्षकता

जो पुत्र तथा पुत्रियाँ वय:प्राप्त नहीं हैं उनकी संरक्षकता के अधिकारी नीचे लिखे मनुष्य क्रमानुसार होंगे (१)—

१—पिता। २—पितामह। ३—भाई। ४—चचा। ५—पिता का गोत्रज। ६—धर्मगुरु। ७—नाना। ८—मामा।

यह क्रम विवाह के सम्बन्ध में है (१)। बड़े भाइयों के साथ छोटे भाइयों को रहने की आज्ञा है (२) और बड़े भाई का कर्त्तव्य है कि पिता के समान उनके साथ व्यवहार करें (३)। विभाग होने के पश्चात् भी यदि कोई भाई उत्पन्न हो जाय तो बड़े भाइयों को उसका विवाह करना चाहिए (४)। छोटी बहिनों की संरक्षकता, उनके विवाहित होने तक, पिता के अभाव में, बड़े भाइयों को प्राप्त होती है (५)। यदि किसी विवाहिता पुत्री के पति के कुटुम्ब में उसकी रक्षा और उसकी सम्पत्ति की देखभाल करनेवाला कोई न हो तो उसके पिता के कुटुम्ब का कोई आदमी संरक्षक होगा (६)। यदि माता जीवित है और कोई छोटी लड़की या लड़का उसके साथ और अपने अन्य भाइयों से पृथक् रहता हो या और भाई

---

(१) त्रै० अध्याय ११ श्लो० ८२।

(२) भद्र० ५; अर्ह० २४।

(३) ,, १०; ,, २४।

(४) ,, १०६।

(५) वर्ध० ६; भद्र० ११; इन्द्र० २८; अर्ह० ३०।

(६) अर्ह० ८२।

न हों तो उसकी संरक्षकता उसकी माता को प्राप्त होगी (७)। यदि उन्मत्तता, असाध्य रोग, आसेब या इसी प्रकार के किसी अन्य कारण वश कोई विधवा अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने के अयोग्य हो तो उसकी रक्षा उसके पति का भाई, भतीजा या गोत्रज, और उनके अभाव में पड़ोसी करेगा (८)। परन्तु अब असमर्थ और रक्षक का विषय सरकारी क़ानून गार्डियन्ज़ एण्ड वार्ड्ज़ ऐक्ट के अनुसार निर्णीय होगा। पागलों का क़ानून असमर्थ और अयोग्य मनुष्यों के कोर्ट का क़ानून तथा इसी प्रकार के विषय सम्बन्धी क़ानून भी अपने अपने मौके पर लागू होंगे।

जैन-लॉ में इस अधिकार को स्वीकार किया गया है कि कोई मनुष्य अपने जीवन-काल में वसीअत द्वारा अपनी सम्पत्ति का कोई प्रबन्धक नियत कर दे जो उसकी विधवा एवं उसकी सम्पत्ति की रक्षा करे (९) ऐसा नियुक्ति-पत्र साक्षियों द्वारा पंचों या सरकार से रजिस्टरी कराना चाहिए (१०)। यदि सिपुर्ददार सम्पत्ति के स्वामी की मृत्यु के पश्चात् विश्वासघाती हो जावे तो विधवा को अधिकार होगा कि अदालत द्वारा उसे पृथक् करा दे और उसके स्थान पर अन्य पुरुष को नियुक्त करा दे (११)। वर्धमान नीति के अनुसार वह स्वयं भी उस प्रबन्धक की जगह अपनी सम्पत्ति का प्रबन्ध कर सकती है (१२)। प्रबन्धक का कर्तव्य है कि वह सम्पत्ति की देखभाल पूर्ण सावधानी

---

(७) वर्ध० १८; अर्ह० ८३—८४।

(८) अर्ह० ७८—८०।

(९) ,, ४६—४८; वर्ध० १६—१७, व २०—२१।

(१०) ,, ४७; वर्ध० २०—२१।

(११) अर्ह० ४९—५०; भद्र० ७१—७२।

(१२) वर्ध० २२—२३; भद्र० ७३—७४ का आशय भी ऐसा ही जान पड़ता है।

से करे ताकि सम्पत्ति सुरक्षित रहे और परिवार-जनों का निर्वाह भली भाँति हो सके (१३)। यदि विधवा ने प्रबन्ध-कार्य का दायित्व स्वयं अपने ऊपर ले लिया है तो उसको (नियुक्ति-पत्र या वसीयत के अनुसार) उस सम्पत्ति को दान करने, गिरवी रखने तथा बेच देने का आवश्यकतानुसार अधिकार होगा (१४)। यदि कोई औरस या दत्तक पुत्र हो तो वह उसके इस प्रकार सम्पत्ति को व्यय करने में बाधक नहीं हो सकता (१५); क्योंकि विधवा को वह सब अधिकार हैं जो सिपुर्ददार को होते, तथा उसको धार्मिक कार्यों अथवा व्यापार सम्बन्धी आवश्यकताओं में उस सम्पत्ति को दानकर देने, गिरवी रखने और बेचने का अधिकार प्राप्त है (१६)।

---

(१३) अर्ह० ५१।
(१४) " ५२।
(१५) " ५२।
(१६) वर्ध० २४।

अष्टम परिच्छेद

रिवाज

रिवाज कई प्रकार के होते हैं, साधारण व विशेष, अर्थात् जातीय, कौटुम्बिक और स्थानीय। प्रत्येक मुक़दमे में इनको गवाहों से साबित करना पड़ता है। कौटुम्बिक रिवाज के साबित करने के लिए बड़ी प्रमाणित साक्षी की आवश्यकता होती है। आजकल क़ानून के अनुसार न्यायालयों में जैन-जाति के मनुष्यों के झगड़े रिवाज-विशेष के अनुसार निर्णय किये जाते हैं (१)। रिवाज-विशेष के अभाव में हिन्दू-क़ानून लागू होता है (२)। हिन्दू-क़ानून का वह भाग जो द्विजों के लिए है जैनियों के लिए लागू माना गया है (३)। बम्बई प्रान्त में एक मुक़द्दमे में एक मृतक पुरुष की बरसी के सम्बन्ध में भी हिन्दू-क़ानून लागू किया गया था यद्यपि बरसी का जैन-जाति में रिवाज नहीं है और वह जैन सिद्धांत के नितान्त बाहर व विरुद्ध है। परन्तु उस मुक़दमे में विधवा एक ओर और दूसरी ओर मृतक का अल्पवयस्क पुत्र था और सम्पत्ति प्रबन्धक के प्रबन्ध में थी और सब पक्षों ने स्वीकार कर लिया था

(१) शिवसिंह राय ब० मु०'दाखो १ इला० ६८८ प्री० कौं०; मानकचन्द गुलेचा ब० जगतसेठानी प्राणकुमारी बीबी १७ कल० ५१८।

(२) अम्बाबाई ब० गोविन्द २३ बम्बई २५७; छोटेलाल ब० छुन्नूलाल ४ कल० ७४४ प्री० कौं०, और देखो अन्य मुक़दमे जिनका पहिले उल्लेख किया जा चुका है।

(३) अम्बाबाई ब० गोविन्द २३ बम्बई २५७।

कि उनके मुक़दमे से हिन्दू-क़ानून लागू होता है (४)। धर्म-परिवर्तन का, अर्थात् किसी जैनी के हिन्दू-धर्म स्वीकार कर लेने से उसके स्वत्वों पर कोई असर नहीं पड़ता (५)। एक मुक़दमे में, जो तञ्जौर में हुआ था, जहाँ एक जैन विधवा ने जिसके कुटुम्बी जन किसी समय में हिन्दू थे अपने पति की आज्ञा के बिना पुत्र गोद ले लिया था, यह निर्णय हुआ था कि हिन्दू-क़ानून लागू होता है और दत्तक नीति-विरुद्ध है (६)। यह मुक़दमा एक पहिले मुक़दमे से इस कारण असमहधर्मी क़रार दिया गया था कि उसमें धर्म-परिवर्तन मुक़दमा चलने से सैकड़ों वर्ष पूर्व हो चुका था; और अनुमानतः उससे भी पहिले हो चुका था जब कि हिन्दू-लॉ का वह भाग, जो उस स्थान पर मुक़दमे के समय चालू था, रचा गया होगा (७)। बङ्गाल के एक पुराने मुक़दमे में हिन्दू-क़ानून का स्थानीय नियम जैनियों को लागू किया गया था, अर्थात् हिन्दू-क़ानून की वह शाखा जिसका उस स्थान में रिवाज था जहाँ सम्पत्ति वाक़े थी जैनियों को लागू की गई थी (८)। परन्तु इसके पश्चात् एक और मुक़दमे में, जिसका जुडीशल कमिश्नर नागपुर ने निर्णय किया, इस फ़ैसले का अर्थ यह समझा गया कि स्थानीय

(४) सुन्दरजी दामजी ब० दाही बाई २९ बम्बई ३१६ = ६ बम्बई लॉ-रिपोर्टर १०५२।

(५) मानकचन्द गुलेचा ब० ज० से० प्राणकुमारी १७ कल० ५१८।

(६) पेरिया अम्माना ब० कृष्णास्वामी १६ मद्रास १८२।

(७) रिथुचरण लाला ब० सूजनमल लाला ६ मद० ज्युरिस्ट २१।

(८) महावीरप्रसाद ब० मु० कुन्दन कुँवर ८ वीकली रिपोर्टर ११६; इसका प्री० कौं० का फ़ैसला नं० २१ वीकली रिपोर्टर पृ० २१४ और उसके पश्चात् के पृष्ठों पर दिया है (दुर्गाप्रसाद ब० मु० कुन्दन कुँवर)।

नियम उसी अवस्था में लागू होगा जब कि किसी दूसरे नियम या क़ानून का होना प्रमाणित न हो (९)।

अब यह नियम सिद्ध हो गया है कि एक स्थान का रिवाज दूसरे स्थान के रिवाज को प्रमाणित करने के लिए साबित किया जा सकता है और प्रासङ्गिक विषय है (१०)। यह भी माना जायगा कि हिन्दुओं की भाँति जैनी लोग भी एक स्थान से दूसरे स्थान को अपने रीति-रिवाज साथ ले जाते हैं, जब तक कि यह न दिखाया जाय कि पुराने रिवाज छोड़कर स्थानीय रिवाज ग्रहण कर लिये गये हैं (११)।

रिवाज प्राचीन, निश्चित, व्यवहृत और उचित होने चाहिएँ। सदाचार के प्रतिकूल, सरकारी क़ानून के विरुद्ध और सामाजिक नीति (public policy) के द्रोही रिवाज उचित नहीं समझे जायेंगे। गवाहों की निजी सम्मति की अपेक्षा उदाहरणों और झगड़ेवाले मुक़दमों के फ़ैसलों का मूल्य रिवाज को साबित करने के लिए अधिक है। ऐसा रिवाज जो न्यायालयों में बार बार प्रमाणित हो चुका है क़ानून का अंश बन जाता है और प्रत्येक मुक़दमे में उसके साबित करने की आवश्यकता नहीं रहती है (१२)।

---

(९) ज़ंकूरी ब० बुद्धमल ५७ इंडि० के० २५२।

(१०) हरनामप्रसाद ब० मंडिलदास २७ कल० ३७९; अम्बाबाई ब० गोविन्द २३ बम्बई २५७।

(११) ज़ंकूरी ब० बुद्धमल ५७ इंडि० के० २५२; अम्बाबाई ब० गोविन्द २३ बम्बई २५७।

(१२) मु० सोनो ब० मु० इन्द्राणी बहू ७८ इंडि० के० ४६१ नागपुर।

द्वितीय भाग

त्रैवर्णिकाचार

ग्यारहवाँ अध्याय

अन्यगोत्रभवां कन्यामनातङ्कांसुलक्षणाम् ।
आयुष्मतीं गुणाढ्यां च पितृदत्तां वरेद्वर: ॥ ३ ॥

जो अन्य गोत्र की हो, रोगरहित हो, उत्तम लक्षणोंवाली हो, दीर्घ आयुवाली हो, उत्तम गुणों से भरी पुरी हो और अपने पिता द्वारा दी जावे, ऐसी कन्या के साथ विवाह करे ॥ ३ ॥

वरोऽपि गुणवान् श्रेष्ठो दीर्घायुर्व्याधिवर्जित: ।
सुकुली तु सदाचारी गृह्यतेऽसौ सुरूपक: ॥ ४ ॥

वर भी गुणवान्, श्रेष्ठ, दीर्घ आयुवाला, निरोगी, उत्तम कुल का, सदाचारी और रूपवान् होना चाहिए ॥ ४ ॥

पादेऽपि मध्यमा यस्या: क्षितिं न स्पृशति यदि ।
द्वौ पुरुषावतिक्रम्य सा तृतीयं न गच्छति ॥ २० ॥

जिसके पैर की बिचली उँगली ज़मीन पर न टिकती हो तो समझना चाहिए कि वह दो पुरुषों को छोड़कर तीसरे के पास नहीं जायगी ॥ २० ॥

यस्यास्त्वनामिका ह्रस्वा तां विदु: कलहप्रियाम् ।
भूमिं न स्पृशते यस्या: खादते सा पतिद्वयम् ॥ २४ ॥

जिसके पैर की अनामिका उँगली छोटी हो उसे कलहकारिणी समझो और उसकी वह उँगली यदि ज़मीन पर न टिकती हो तो समझो कि वह कन्या दो पतियों को खायगी ॥ २४ ॥

इत्थं लक्षणसंयुक्तां षडष्टराशिवर्जिताम् ।

वर्णविरुद्धासंत्यक्तां सुभगां कन्यकां वरेत् ॥ ३५ ॥

जो ऊपर कहे हुए शुभ लक्षणों से युक्त हो, पति की जन्म-राशि से जिसकी जन्म-राशि छठवीं या आठवीं न पड़ती हो, और जिसका वर्ण पति के वर्ण से विरुद्ध न हो, ऐसी सुभग कन्या के साथ विवाह करना चाहिए ॥ ३५ ॥

रूपवती स्वजातीया स्वतोलघ्वन्यगोत्रजा ।

भोक्तुं भोजयितुं योग्या कन्या बहुकुटुम्बिनी ॥ ३६ ॥

जो रूपवती हो, अपनी जाति की हो, वर से आयु और शरीर में छोटी हो, दूसरे गोत्र की हो; और जिसके कुटुंब में बहुत से स्त्री-पुरुष हों, ऐसी कन्या विवाह के योग्य होती है ॥ ३६ ॥

सुतां पितृष्वसुश्चैव निजमातुलकन्यकाम् ।

स्वसारं निजभार्यायाः परिणेता न पापभाक् ॥ ३७ ॥

बूआ की लड़की के साथ, मामा की कन्या के साथ और साली के साथ विवाह करनेवाला पातकी नहीं है ॥ ३७ ॥

नोट—आजकल इस क़ायदे पर स्थानीय रिवाज के अनुसार अमल हो सकता है। इसलिए सोमदेवनीति में कहा है कि "देश-कालापेक्षो मातुलसम्बन्धः" अर्थात् मामा की लड़की से विवाह देश और काल के रिवाज के मुताबिक़ ही होता है।

पुत्री मातृभगिन्याश्च स्वगोत्रजनिताऽपि वा ।

श्वश्रूष्वसा तथैतासां वरीता पातकी स्मृतः ॥ ३८ ॥

अपनी मौसी की लड़की, अपने गोत की लड़की तथा अपनी सास की बहन के साथ विवाह करनेवाला पातकी माना गया है ॥ ३८ ॥

स्ववयसोऽधिकां वर्षैरुन्नतां वा शरीरतः ।

गुरुपुत्रीं वरेन्नैव मातृवत्परिकीर्तिता ॥ ४० ॥

अपने से उमर में बड़ी हो, अपने शरीर से ऊँची हो तथा गुरु की पुत्री हो तो इनके साथ विवाह न करे। क्योंकि ये माता के समान मानी गई हैं ॥ ४० ॥

वाग्दानं च प्रदानं च वरणंपाणिपीडनम्।
सप्तपदीति पञ्चाङ्गो विवाहः परिकीर्तितः ॥ ४१ ॥

वाग्दान, प्रदान, वरण, पाणिग्रहण और सप्तपदी, ये विवाह के पाँच अङ्ग कहे गये हैं ॥ ४१ ॥

नोट—वाग्दान सगाई को कहते हैं, प्रदान ज़ेवर और कपड़े वग़ैरह का वर की तरफ़ से कन्या को भेंट करना होता है। वरण वर और कन्या के वंश का वर्णन है जो विवाह के समय होता है। पाणिग्रहण या पाणिपीड़न हाथ मिलाने को कहते हैं और सप्तपदी भाँवर है।

ब्राह्मो दैवस्तथा चार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधर्मः ॥ ७० ॥

ब्राह्म विवाह, दैव विवाह, आर्ष विवाह और प्राजापत्य विवाह, ये चार धर्म्य विवाह हैं। और आसुर विवाह, गान्धर्व विवाह, राक्षस विवाह और पैशाच विवाह, ये चार अधर्म्य विवाह हैं। एवं विवाह के आठ भेद हैं ॥ ७० ॥

आच्छाद्य चार्हयित्वा च श्रुतशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्यायाः ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ ७१ ॥

विद्वान् और सदाचारी वर को स्वयं बुलाकर उसको और कन्या को बहुमूल्य आभूषण पहनाकर कन्या देने को ब्राह्म विवाह कहते हैं ॥ ७१ ॥

यज्ञे तु वितते सम्यक् जिनार्चाकर्म कुर्वते।
अलंकृत्य सुतादानं दैवो धर्मः प्रचक्ष्यते ॥ ७२ ॥

जिन-पूजा रूप महान् अनुष्ठान की समाप्ति होने पर जिनार्चा करानेवाले सधर्मी पुरुष को वस्त्र-आभूषणों से विभूषित करके कन्या के देने को दैव विवाह कहते हैं ॥ ७२ ॥

एकं वस्त्रयुगं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्या प्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ ७३ ॥

एक या दो जोड़ी वस्त्र वर से कन्या को देने के लिए धर्म निमित्त लेकर विधि पूर्वक कन्या देना आर्ष विवाह है ॥ ७३ ॥

नोट—कहीं कहीं 'वस्त्रयुगं' के बजाय 'गोमिथुनं' का पाठ भी आया है जिसका अर्थ एक गाय और बैल का है ।

सहोभौ चरतां धर्ममिति तं चानुभाष्य तु ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ७४ ॥

'तुम दोनों साथ-साथ सद्धर्म का आचरण करो', केवल ऐसे आशीर्वाद के साथ कन्या के ब्याह देने को प्राजापत्य विवाह कहते हैं ॥ ७४ ॥

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्यादानं यत्क्रियते चासुरो धर्म उच्यते ॥ ७५ ॥

कन्या के पिता आदि को कन्या के लिए यथाशक्ति धन देकर कन्या लेना आसुर विवाह है ॥ ७५ ॥

स्वेच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥ ७६ ॥

वर और कन्या का अपनी इच्छापूर्वक परस्पर आलिङ्गनादि रूप संयोग गान्धर्व विवाह है । यह विवाह कन्या और वर की अभिलाषा से होता है । अतः यह मैथुन्य—कामभोग के लिए होता है ॥ ७६ ॥

हत्वा भित्वा च छित्वा च क्रोशन्तीं रुदन्तीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ७७ ॥

कन्या के पक्ष के लोगों को मारकर, उनके अङ्गोपाङ्गों को छेद-कर, उनके प्राकार (परकोटा) दुर्ग आदि को तोड़-फोड़कर चिल्लाती हुई और रोती हुई कन्या को ज़बर्दस्ती से हरण करना राक्षस विवाह है ॥ ७७ ॥

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचः कथितोऽष्टमः ॥ ७८ ॥

सोई हुई, नशे से चूर, अपने शील की संरक्षा से रहित कन्या के साथ एकान्त में समागम करके विवाह करना पैशाच विवाह है जो पाप का कारण है। यह आठवीं किस्म का विवाह है ॥७८॥

पिता पितामहो भ्राता पितृव्यो गोत्रिणो गुरुः ।
मातामहो मातुलो वा कन्याया बान्धवाः क्रमात् ॥ ८२ ॥

पिता, पितामह, भाई, पितृव्य (चाचा), गोत्रज मनुष्य, गुरु, माता का पिता और मामा ये कन्या के क्रम से बन्धु (वली) हैं ॥८२॥

पित्र्यादिदात्रभावे तु कन्या कुर्यात्स्वयंवरम् ।
इत्येवं केचिदाचार्याः प्राहुर्महति सङ्कटे ॥ ८३ ॥

विवाह करनेवाले पिता, पितामह आदि न हों, तो ऐसी दशा में कन्या स्वयं अपना विवाह करे। ऐसा कोई-कोई आचार्य कहते हैं। यह विधि महासंकट के समय समझना चाहिए ॥ ८३ ॥

तावद्विवाहो नैव स्याद्यावत्सप्तपदी भवेत् ।
तस्मात्सप्तपदी कार्या विवाहे मुनिभिः स्मृता ॥१०५॥

जब तक सप्तपदी (भावर) नहीं होती तब तक विवाह हुआ नहीं कहा जाता। इसलिए विवाह में सप्तपदी अवश्य होनी चाहिए, ऐसा मुनियों का कहना है ॥१०५॥

नोट—सप्तपदी जिसका अर्थ सात पद या सात बार ग्रहण करने का है पवित्र अग्नि के गिर्द सात बार फेरे लेने को कहते हैं। अग्नि वैराग्य का रूपक है, इस कारण सप्तपदी का गूढ़ार्थ यही है कि जिससे दूल्हा दुलहिन के हृदय पर यह बात सात मर्तबा, याने पूरे तौर से, अंकित कर दी जावे कि विवाह का असली अभिप्राय धर्म-साधन है न कि विषय सेवन।

चतुर्थी मध्ये ज्ञायन्ते दोषा यदि वरस्य चेत्।
दत्तामपि पुनर्दद्यात्पिताऽन्यस्मै विदुर्बुधाः ॥१७४॥

चौथी में यदि कोई दोष वर में मालूम हो जायँ तो दी हुई कन्या को भी उसका पिता किसी दूसरे वर को दे, ऐसा बुद्धिमानों का मत है ॥ १७४ ॥

प्रवरैक्यादिदोषः स्युः पतिसङ्गादधो यदि।
दत्तामपि हरेद्दद्यादन्यस्मा इति केचन ॥१७५॥

अथवा किन्हीं-किन्हीं ऋषियों का ऐसा भी मत है कि यदि पति-संग से प्रवरैक्यादि दोष मालूम हो तो कन्यादाता कन्या को उस वर को न देकर किसी अन्य वर को दे ॥१७५॥

कलौ तु पुनरुद्वाहं वर्जयेदिति गालवः।
कस्मिंश्चिद्देश इच्छन्ति न तु सर्वत्र केचन ॥ १७६ ॥

गालव ऋषि कहते हैं कि कलियुग में पुनर्विवाह का निषेध है। इसके अतिरिक्त यह किसी-किसी देश में ही होता है, सर्वत्र नहीं होता ॥१७६॥

अप्रजां दशमे वर्षे स्त्रीप्रजां द्वादशे त्यजेत्।
मृतप्रजां पञ्चदशे सद्यस्त्वप्रियवादिनीम् ॥१८७॥

दसवें वर्ष तक जिस स्त्री के सन्तान न हो तो उसके होते हुए दूसरा विवाह करे। जिसके केवल कन्याएँ ही होती हों तो बारह

वर्ष के बाद दूसरा विवाह करे, जिसके सन्तान हो के मर जाती हो उसके होते हुए १५ वर्ष के बाद फिर विवाह करे। और अप्रिय-वादिनी की उपस्थिति में तत्काल दूसरा विवाह करे ॥१९७॥

सुरूपां सुप्रजां चैव सुभगामात्मनः प्रियाम्।
धर्मानुचारिणीं भार्यां न त्यजेद् गृहसद्व्रती ॥१९९॥

रूपवती, पुत्रवती, भाग्यशालिनी, अपने को प्रिय और धर्मानु-चारिणी भार्या के होते हुए दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए ॥१९९॥

अकृत्वाऽर्कविवाहं तु तृतीयां यदि चोद्वहेत्।
विधवा सा भवेत्कन्या तस्मात्कार्यं विचक्षणा ॥२०४॥

अर्कविवाह किये बिदून तीसरा विवाह समझदार मनुष्य को नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया जावेगा तो कन्या विधवा के समान होगी ॥२०४॥

श्री भद्रबाहुसंहिता

दायभाग

संसृतौ पुत्रसद्भावो भवेदानन्दकारक:

यदभावे वृथा जन्म गृह्यते दत्तको नरै: ॥ १ ॥

अर्थ—संसार में पुत्र का सद्भाव (होना) ऐसा आनन्दकारक है कि, जिसके अभाव में जन्म ही व्यर्थ समझा जाता है। इसलिए औरस पुत्र के अभाव में मनुष्य दत्तक पुत्र ग्रहण करते हैं ॥ १ ॥

बहवो भ्रातरो यस्य यदि स्युरेकमानसा: ।

महत्पुण्यप्रभावोऽयमिति प्रोक्तं महर्षिभि: ॥ २ ॥

अर्थ—यदि किसी के बहुत से भाई एक चित्तवाले हों तो इसको उसके बड़े भारी पुण्य का प्रभाव समझना चाहिए, ऐसा महर्षियों ने कहा है ॥ २ ॥

पुण्ये न्यूने भ्रातरस्ते द्रुह्यन्ति धनलोभत: ।

आपत्तौ तन्निवृत्यर्थं दायभागो निरूप्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—पुण्य के न्यून होने पर वे बहुत से भाई धन के लोभ से परस्पर द्रोह भाव को प्राप्त होते हैं, अर्थात् आपस में लड़ते-झगड़ते हैं। ऐसी आपत्ति में उसके (वैर भाव के) निवारण करने के लिए यह दायभाग निरूपित किया जाता है ॥ ३ ॥

पित्रोरूर्द्ध्वं भ्रातरस्ते समेत्य वसु पैतृकम् ।

विभजेरन् समं सर्वे जीवतो पितुरिच्छया ॥ ४ ॥

अर्थ—माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् वे सब भाई पैत्रिक सम्पत्ति को एकत्र करके बराबर बराबर बाँट लें। परन्तु उनके जीते जी पिता के इच्छानुसार ही ग्रहण करें ॥ ४ ॥

ज्येष्ठ एव हि गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः।
अन्यं तदनुसारित्वं भजेयुः पितरं यथा ॥ ५ ॥

अर्थ—पिता का सम्पूर्ण धन ज्येष्ठ (बड़ा) पुत्र ही ग्रहण करता है; शेष छोटे पुत्र उस अपने बड़े भाई को पिता के समान मानके उसकी आज्ञा मे रहते हैं ॥ ५ ॥

प्रथमोत्पन्नपुत्रेण पुत्री भवति मानवः।
पुनर्भवन्तु कतिचित्सर्वस्याधिपतिर्महान् ॥ ६ ॥

अर्थ—प्रथम उत्पन्न हुए पुत्र से मनुष्य पुत्री* अर्थात् पुत्रवान् होता है, और पीछे से कितने ही पुत्र क्यों न पैदा हों परन्तु उन सबका अधिपति वह बड़ा पुत्र ही कहलाता है ॥ ६ ॥

यस्मिन् जाते पितुर्जन्म सफलं धर्मजे सुते।
पापित्वमन्यथा लोका वदन्ति महदद्भुतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस धर्मपुत्र के उत्पन्न होने से पिता के जन्म को लोक सफल कहते हैं उसी के न होने से उसको पापी कहते हैं। यह बड़ा आश्चर्य है ॥ ७ ॥

पुत्रेण स्यात्पुण्यवत्त्वमपुत्रः पापभुग्भवेत्।
पुत्रवन्तोऽत्र दृश्यन्ते पामराः कणयाचकाः ॥ ८ ॥

---

*ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः।
—मनुस्मृति अ० ६, श्लो० ६।

पूर्वजेनतु पुत्रेण अपुत्रः पुत्रवान् भवेत्।
—अर्हन्नीति श्लो० २३।

दृष्टास्तीर्थकृतोऽपुत्रा पञ्चकल्याणभागिनः ।
देवेन्द्रपूज्यपादाब्जा लोकत्रयविलोकिनः ॥ ९ ॥

अर्थ—अनेक लोग इस लोक में पुत्र से पुण्यवान् कहे जाते हैं और पुत्रहीन पापी कहे जाते हैं। परन्तु बहुतेरे पुत्रवान् नीच और दाने माँगते हुए देखे जाते हैं, तथा पुत्र-रहित पञ्च कल्याण के भागी देवेन्द्रों से पूज्य हैं चरणकमल जिनके और तीन लोक के देखनेवाले तीर्थङ्कर भी देखे जाते हैं ॥ ८—९ ॥

ज्येष्ठोऽविभक्तभ्रातॄन् वै पितेव परिपालयेत् ।
तेऽपि तं भ्रातरं ज्येष्ठं जानीयुः पितृवत्सदा ॥ १० ॥

अर्थ—ज्येष्ठ भाई को चाहिए* कि अपने अविभक्त अर्थात् एकत्र रहनेवाले भाइयों का पिता के समान पालन करे और उन भाइयों को भी चाहिए कि ज्येष्ठ भाई को सदैव पिता के समान मानें॥१०॥

यद्यपि भ्रातॄणामेकचित्तत्वं पुण्यप्रभावस्तथापि ।
धर्मवृद्ध्यै पृथग्भवनमपि योज्यम् ॥ ११ ॥
मुनीनामाहारदानादिना सर्वेषां पुण्यभागित्वात् ।
भोगभूमिजन्मरूपफलप्राप्तिः स्यात्तदेवाह ॥ १२ ॥

अर्थ—यद्यपि भाइयों का एकचित्तत्व होना पुण्य का प्रभाव है, तथापि धर्म की वृद्धि के लिए पृथक्-पृथक् होना भी योजनीय है। क्योंकि मुनियों के आहार दानादि के द्वारा जो पुण्य होगा उसके

* पितेव पालयेत्पुत्राञ्ज्येष्ठो भ्रातॄन् नयवीयसः ।
पुत्रवच्चापि वर्त्तेरञ्ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥
—मनुस्मृति अ० ९ श्लो० ८ ।

विभक्तानविभक्तान्वै भ्रातॄञ्ज्येष्ठः पितेव सः ।
पालयेत्तेऽपि तं ज्येष्ठं सेवन्ते पितरं यथा ॥
—अर्हन्नीति श्लो० २२ ।

सब भाई पृथक्-पृथक् भागी होंगे, जिसके कि फल-रूप भोग-भूमि में जन्म की प्राप्ति होती है ।। ११-१२ ।।

विभक्ता भ्रातरो भिन्नास्तिष्ठन्तु सपरिच्छदाः ।
दानपूजादिना पुण्यं वृद्धिः संजायतेतराम् ।। १३ ।।

अर्थ—विभक्त हुए भाई अपने-अपने परिवार के सहित भिन्न-भिन्न रहें, क्योंकि दान, पूजा आदि कार्यों से विशेष पुण्यवृद्धि होती है ।। १३ ।।

तद्द्रव्यं द्विविधं प्रोक्तं स्थावरं जङ्गमं तथा ।
स्थानादि स्थावरं प्रोक्तं यदन्यत्र न गम्यते ।। १४ ।।

अर्थ—वह द्रव्य, जिसका दायभाग किया जाता है, दो प्रकार का कहा गया है, एक स्थावर (गैरमन्कूला) और दूसरा जङ्गम (मन्कूला)। जिस द्रव्य का गमन अन्यत्र न हो सके, अर्थात् जो कहीं जा न सके, जैसे कि स्थानादि, उसे स्थावर कहते हैं ।। १४ ।।

जङ्गमं रौप्य गाङ्गं य भूषा वस्त्राणि गोधनम् ।
यदन्यत्र परेणापि नीयते स्त्र्यादिकं तथा ।। १५ ।।

अर्थ—और जो अन्यत्र भी पहुँचाया जा सके जैसा कि चाँदी, सोना, भूषण, वस्त्र, गोधन (गाय भैंस आदि चौपाये) और दास दासी आदि, सो सब जङ्गम द्रव्य है ।। १५ ।।

स्थावरं न विभागार्हं नैव कार्या विकल्पना ।
स्थास्याम्यत्र चतुष्पादेवात्र त्वं तिष्ठ मद्गृहे ।। १६ ।।

अर्थ—स्थावर द्रव्य विभाग करने के योग्य नहीं है* । उसके विभाग करने की कल्पना नहीं करनी चाहिए । "यहाँ पर चतुर्थ

न विभज्यं न विक्रेयं स्थावरं न कदापि हि ।
प्रतिष्ठाजनकं लोके आपदाकालमन्तरम् ।।

अर्हन्नीति ५ ।

भाग में मैं रहूँगा, और इस घर में तुम रहो" ऐसा भाइयों को प्रबन्ध कर लेना चाहिए ॥ १६ ॥

सर्वेपि भ्रातरो ज्येष्ठं विभक्ताज्जङ्गमा तथा ।
किञ्चिदंशं च ज्येष्ठाय दत्त्वा कुर्युः समांशकम् ॥ १७ ॥

अर्थ—सब भाई अपने बड़े भाई को पहिले अविभक्त जङ्गम द्रव्य में से कुछ अंश देकर फिर शेष सम्पत्ति को सब मिलकर बराबर-बराबर बाँट लें ॥१७ ॥

गोधनं तु समं भक्त्वा गृह्णीयुस्ते निजेच्छया ।
कश्चिद्धर्तुं न शक्तश्चेदन्यो गृह्णात्यसंशयम् ॥ १८ ॥

अर्थ—गोधन (अर्थात् गाय महिषादि जानवरों) को अपने-अपने इच्छानुसार बराबर भाग करके ले लें, और यदि भागाधिकारियों में से कोई धारण करने में समर्थ न हो तो उस गोधन को दूसरा भागी बेखटके ग्रहण कर ले ॥ १८ ॥

भ्रातृणां यदि कन्या स्यादेका बह्व्यः सहोदरैः ।
स्वांशात्सर्वैस्तुरीयांशमेकीकृत्य विवाह्यते ॥ १९ ॥

अर्थ—यदि भाइयों की सहोदरी एक अथवा बहुत सी कन्या हों तो सब भाइयों को अपने-अपने भाग में से चौथा-चौथा भाग एकत्र करके कन्याओं का विवाह कर देना चाहिए ॥ १९ ॥

ऊढायास्तु न भागोऽस्ति किञ्चिद् भ्रातृसमक्षतः ।
विवाहकाले यत्पित्रा दत्तं तस्यास्तदेव हि ॥ २० ॥

अर्थ—भाइयों के समक्ष विवाहिता कन्या का पिता की सम्पत्ति में कुछ भी भाग नहीं है। विवाहकाल में पिता ने उसे जो दे दिया हो वही उसका है ॥ २० ॥

सहोदरैर्निजाम्बाया भागस्सम उदाहृतः ।
साधिको व्यवहारार्थं मृतौ सर्वेंऽशभागिनः ॥ २१॥

अर्थ—माता का भी भाइयों के साथ समान भाग कहा गया है और इसके अतिरिक्त व्यवहार-साधन के लिए माता को कुछ अधिक और भी देना चाहिए। माता के मरने पर उसके धन के सब भाई समानांश भागी होते हैं ॥ २१ ॥

एककाले युगोत्पत्तौ पूर्वजस्य हि ज्येष्ठता ।
विभागसमये प्रोक्तं प्राधान्यं तस्य सूरिभिः ॥ २२ ॥

अर्थ—एक काल में दो पुत्रों की उत्पत्ति में पूर्वज के, अर्थात् जो पहिले निर्गत हुआ हो उसे ही, ज्येष्ठता होती है और विभाग के समय आचार्यों ने उसी का प्राधान्य कहा है ॥ २२ ॥

यदि पूर्वं सुता जाता पश्चात्पुत्रश्च जायते ।
तत्र पुत्रस्य ज्येष्ठत्वं न कन्याया जिनागमे ॥ २३ ॥

अर्थ—यदि पूर्व में लड़की उत्पन्न हो और पीछे पुत्र उत्पन्न हो तो भी जैन-शास्त्र में लड़का ही बड़ा माना गया है न कि लड़की ॥२३॥

यस्यैकपुत्री निष्पन्ना परं संतत्यभावतः ।
सा तत्सुतो वाऽधिपतिः पितृद्रव्यस्य सर्वतः ॥२४॥

अर्थ—जिसके केवल एक पुत्री ही उत्पन्न हो और अन्य सन्तान का अभाव हो, तो वह पुत्री और उस पुत्री का पुत्र (अर्थात् दौहित्र) उस पिता के द्रव्य के सर्वतः स्वामी* होते हैं ॥२४॥

नोट—निकटवर्ती दायादों के अभाव में ही लड़की और उसका लड़का वारिस होते हैं।

वक्ष्यमाण निदानानामभावे पुत्रिका मता ।
दाये वा पिण्डदाने च पुत्रैर्दौहित्रकाः समाः ॥ २५ ॥

* यस्यैकस्यां तु कन्यायां जातायां नान्यसन्ततिः ।
प्राय तं तस्याश्चाधिपत्यं सुतायास्तु सुतस्य च ॥
अर्हन्नीति ३१

अर्थ—उन नियमों के अभाव में जो आगे कहे जायँगे पुत्र के सदृश पुत्रिका मानी गई है और दायभाग तथा पिण्डदान (सन्तति-सञ्चालन) के लिए पुत्रों के समान दौहित्र माने गये हैं ॥ २५ ॥

नोट—यह नियम (क़ायदे) इस पुस्तक में नहीं मिलते हैं जिससे प्रकट होता है कि यह शास्त्र अधूरा है और किसी बड़े शास्त्र के आधार पर लिखा गया है। परन्तु विर्सा का क़ानून वर्धमान-नीति आदि अन्य शास्त्रों में दिया हुआ है।

आत्मा वै जायते पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठंत्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ २६ ॥

अर्थ—आत्म-स्वरूप पुत्र होता है और पुत्र के समान पुत्री है, तो फिर उस आत्मरूप पुत्री की उपस्थिति में दूसरा कोई धन का हरण कैसे कर सकता है? ॥२६॥

ऊढाऽनूढाऽथवा कन्या मातृद्रव्यस्य भागिनी।
अपुत्रपितृद्रव्यस्याधिपो दौहित्रको भवेत् ॥ २७ ॥

अर्थ—माता के द्रव्य की भागिनी कन्या होती है, चाहे वह विवाहित हो अथवा अविवाहित, और पुत्र-रहित पिता के द्रव्य का अधिकारी दौहित्र होता है ॥२७॥

न विशेषोऽस्ति लोकेऽस्मिन् पौत्रदौहित्रयोः स्मृतः।
पित्रोरेकत्रसम्बन्धाज्जातयोरेकदेहतः ॥ २८ ॥

अर्थ—(क्योंकि) इस लोक में माता-पिता के एकत्र सम्बन्ध से उत्पन्न हुए एक देह रूप जो पुत्र और पुत्री हैं, उनसे उत्पन्न हुए पौत्र और दौहित्र में कुछ विशेषता (अर्थात् भेद) नहीं जानना चाहिए ॥ २८ ॥

ऊढपुत्र्यां परेतायामपुत्रायां च तत्पतिः।
स स्त्रीधनस्य द्रव्यस्याधिपतिस्तत्पतिः सदा ॥२९॥

अर्थ—यदि विवाहिता पुत्री निःसन्तान मर जावे तो उसके द्रव्य का मालिक उसका पति ही होगा ॥ २९ ॥

तयोरभावे तत्पुत्रो दत्तको गोत्रियः सति ।
पितृद्रव्याधिपः स्याद्धि गुणवान् पितृभक्तिमान् ॥ ३० ॥

अर्थ—पति-पत्नी दोनों के मरने पर पिता में भक्ति करनेवाला गुणवान् पुत्र औरस हो अथवा दत्तक हो पिता के सम्पूर्ण द्रव्य का मालिक होता है ॥३०॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां ब्राह्मणेन विवाहिता ।
कन्यास्तज्जातपुत्राणां विभागोऽयं बुधैः स्मृतः ॥३१॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों की कन्याओं का यदि ब्राह्मण के साथ विवाह किया जावे तो उनसे पैदा हुए पुत्रों का भाग पिता सम्बन्धी द्रव्य में इस प्रकार बुद्धिमान् पुरुषों ने कहा है—॥३१॥

पितृद्रव्यं जंगमं वा स्थावरं गोधनं तथा ।
विभज्य दशधा सर्वं गृह्णीयुः सर्व एकतः ॥३२॥
विप्राजस्तुर्यभागान्वै त्रीन्भागान् क्षत्रियासुतः ।
द्वौ भागौ वैश्यजो गृह्णादेकं धर्मे नियोजयेत् ॥३३॥

अर्थ—पिता के जंगम तथा गोधनादिक और स्थावर द्रव्य में दस भाग लगाकर भाइयों को इस प्रकार लेना चाहिए कि ब्राह्मणी से उत्पन्न हुए पुत्र को चार भाग, क्षत्रिया से उत्पन्न हुए को तीन भाग, और वैश्य माँ से उत्पन्न हुए को दो भाग, तथा अवशिष्ट एक भाग धर्मार्थ नियुक्त करे ॥३२—३३॥

यद्‌गेहे दासदास्यादिः पालनीयो यवीयसा ।
सर्वे मिलित्वा वा कुर्युरन्नांशुकनिबन्धनम ॥ ३४ ॥

अर्थ—गृह में जो दासी से उत्पन्न हुए पुत्र हों तो उनका पालन छोटे भाई को करना चाहिए अथवा सब भाई मिलकर अन्न-वस्त्र का प्रबन्ध करें ॥३४॥

क्षत्रियस्य सवर्णाजोऽर्द्धभागी वैश्यजोद्भवः ।
तुर्यांशभागी शूद्राजः पितृदत्तांशुकादिभृत् ॥३५॥

अर्थ—क्षत्रिय पिता से सवर्णा स्त्री (क्षत्रिया) से उत्पन्न हुए पुत्र को पिता के द्रव्य का अर्धांश तथा वैश्याज पुत्र को चतुर्थांश मिलना चाहिए, और शूद्रा से उत्पन्न हुआ जो पुत्र है वह जो द्रव्य (अन्न-वस्त्रादिक) उसको उसके पिता ने दिया है उसी का स्वामी हो सकता है (अधिक नहीं) ॥ ३५ ॥

वैश्यस्य हि सवर्णाजः सर्वस्वामी भवेत्सुतः ।
शूद्रापुत्रोऽन्नवासोऽर्ह इति वर्णत्रये विधिः ॥ ३६ ॥

अर्थ—वैश्य का वैश्य स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र ही सर्व सम्पत्ति का अधिकारी हो सकता है, शूद्रा से उत्पन्न हुआ लड़का केवल अन्न-वस्त्र का ही अधिकारी है। इस प्रकार वर्णत्रय की विभाग की विधि है ॥ ३६ ॥

शूद्रस्यैकसवर्णाजा एको द्वौ वाऽधिका अपि ।
समांशभागिनः सर्वे शतपुत्रा भवन्त्यपि ॥ ३७ ॥

अर्थ—शूद्र पिता के शूद्रा स्त्री से उत्पन्न हुए पुत्र एक, दो तथा शत भी हों तो वे समभाग के अधिकारी हैं ॥ ३७ ॥

एकपितृजभ्रातॄणां पुत्रश्चैकस्य जायते ।
तेन पुत्रेण ते सर्वे बुधैः पुत्रिण ईरिताः ॥ ३८ ॥

अर्थ—एक पिता के उत्पन्न हुए पुत्रों में से यदि किसी एक के पुत्र हो तो उस पुत्र से सभी पुत्र पुत्रवाले समझे जाते हैं, ऐसा बुद्धिमानों का कथन है ॥ ३८ ॥

कस्यचिद्बहुपत्नीषु ह्येका प्रजनयेत्सुतम् ।
तेन पुत्रेण महिलाः पुत्रवत्यः स्मृताः बुधैः ॥ ३९ ॥

अर्थ—यदि किसी पुरुष की बहुत स्त्रियों में से किसी एक के पुत्र हो तो वे सभी स्त्रियां उस पुत्र के कारण पुत्रवती समझनी चाहिएँ, बुद्धिमानों की ऐसी आज्ञा है ॥ ३९ ॥

तासां मृतौ सर्वधनं गृह्णीयात्सुत एव हि ।
एका भगिन्यभावे चेत्कन्यैकस्याः पतिर्वसोः ॥ ४० ॥

अर्थ—उन सब स्त्रियों के मरने पर उनका धन वह पुत्र लेता है और जब एक भी स्त्री उसके पिता की न रहे तो वह पिता का कुल धन लेता है ॥ ४० ॥

औरसेऽसति पितृभ्यां ग्राह्यो वै दत्तकः सुतः ।
सोऽप्यौरस इव प्रीत्या सेवां पित्रोः करोत्यसौ ॥ ४१ ॥

अर्थ—अपने अङ्ग से उत्पन्न हुआ पुत्र यदि न हो तो माता-पिता को दत्तक पुत्र लेना चाहिए, क्योंकि दत्तक पुत्र भी माता-पिता की सेवा प्रीतिपूर्वक करता है ॥ ४१ ॥

अपुत्रो मानवः स्त्री वा गृह्णीयाद्दत्तपुत्रकम् ।
पूर्वं तन्मातृपित्रादेःससाक्षिलेखनं स्फुटम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—निःसन्तान स्त्री अथवा पुरुष पुत्र गोद लेते हैं। प्रथम ही उसके माता-पिता के हस्त से साक्षिपूर्वक लेख लें ॥ ४२ ॥

स्वकीयभ्रातृज्ञातीयजनसाक्षियुतं मिथः ।
कारयित्वा राजमुद्राङ्कितं भूपाधिकारिभिः ॥ ४३ ॥
कारयेत्पुनराहूय नरनारीः कुटुम्बिकाः ।
वादित्रनृत्यगानादिमंगलाचारपूर्वकम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—परस्पर अपने भाई-बन्धु और जातीय पुरुषों के साक्षि सहित (लेख को) राजा के कार्यभारी पुरुषों से राजा की मुद्रा से

चिह्नित कराकर तत्पश्चात् अपने कुटुम्ब के नर-नारियों को बुलाकर मङ्गलाचारपूर्वक वादित्र नृत्य गान आदि करावे ॥ ४३—४४ ॥

द्वारोद्घाटनसत्कर्म कुर्वन्ति श्रीजिनालये ।
घृतकुम्भं स्वस्तिकं च जिनाग्रे स्थापयेद् गुरुम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—और श्रीजिनचैत्यालय में जाकर द्वारोद्घाटन आदि सत्क्रिया करें तथा श्रीजिनेन्द्र देव की प्रतिमा के आगे घृतकुम्भ स्वस्तिक आदि रक्खें ॥ ४५ ॥

उत्तरीयमधोवस्त्रं दत्वा व्याघुट्य मन्दिरम् ।
स्वं समागत्य नृस्त्रिभ्यस्ताम्बूलं श्रीफलादिकम् ॥ ४६ ॥
स्त्रीभ्यश्च कञ्चुकीर्देयात्कुंकुमालक्तपूर्विका: ।
अशनं कारयित्वा वै जातकर्मक्रियां चरेत् ॥ ४७ ॥

अर्थ—फिर श्रीमन्दिरजी में धोती-दुपट्टा पूजा के निमित्त दे, घण्टा बजावे और अपने घर आकर पुरुष-स्त्रियों को ताम्बूल, श्रीफल आदि दे तथा स्त्रियों को कुंकुमादि-संयुक्त कंचुकी (आँगी धोती) दे और भोजन कराकर जात-कर्म नामक क्रिया (जन्म-संस्कार) करे ॥ ४६—४७ ॥

परैर्भ्रात्रादिभिर्नीतं मुकुटं श्रीफलादिकम् ।
एकद्वित्रिचतुरोऽपि मुद्रा रक्षेत्पिता शिशोः ॥ ४८ ॥

अर्थ—बालक का पिता दूसरे भाई वगैरह कुटुम्बियों द्वारा लाये गये मुकुट, श्रीफलादिक तथा एक दो तीन चार आदि मुद्रा (रुपये) ले ले ॥ ४८ ॥

व्यवहारानुसारेण दानं ग्रहणमेव च ।
एतत्कर्मणि संजातेऽयं पुत्रोऽस्येति कथ्यते ॥ ४९ ॥

अर्थ—इस प्रकार अपने कुलादि व्यवहार के उचित देना-लेना जब हो जावे तब "इसका यह पुत्र है" ऐसा कहा जाता है ॥४९॥

तदैव राज्यकर्मादिव्यापारेषु प्रधानताम्।
प्राप्नोति भूमिग्रामादिवस्तुष्वपि कृतिं पराम्॥ ५०॥

अर्थ—और उसी समय उस पुत्र को राज्यकर्मादि व्यापारों में प्रधानता तथा भूमिग्रामादि वस्तुओं में अधिकार मिलता है॥५०॥

स्वामित्वं च तदा लोकव्यवहारे च मान्यताम्।
तत्संस्कारे कृते चैव पुत्रिणौ पितरौ स्मृतौ॥ ५१॥

अर्थ—और तभी लोक के व्यवहार में स्वामित्व तथा मान्यता होती है। और पुत्र के जन्म-संस्कार करने पर ही माता-पिता दोनों पुत्रवाले कहे जाते हैं॥ ५१॥

दत्तकः प्रतिकूलः स्यात् पितृभ्यां प्राग्मृदूक्तितः।
बोधयेत्तं पुनर्दर्पात् तादृशो जनकस्त्वरम्॥ ५२॥
तत्पित्रादीन् तदुद्भ्रान्तं ज्ञापयित्वा प्रबोधयेत्।
भूयोऽपि तादृशश्चैव बन्धुभूपाधिकारिणाम्॥ ५३॥
आज्ञामादाय गृहतो निष्काम्योऽ ह्यर्भकस्त्वरम्।
न तन्नियोगं भूपाद्याः शृण्वन्ति हि कदाचन॥ ५४॥

अर्थ—यदि दत्तक पुत्र माता-पिता की आज्ञा से प्रतिकूल हो जावे तो वे उसको कोमल वचनों के द्वारा समझावें; यदि न समझे तो पिता उसको धमकाके समझावे। इस पर भी यदि न समझे, तो उसके पूर्व माता-पिता से उसका अपराध कहकर समझावें यदि फिर भी वह जैसा का तैसा ही रहे, तो अपने कुटुम्बी जनों की तथा राजा के अधिकारियों की आज्ञा लेकर उसे घर से निकाल देना चाहिए। इसके पश्चात् उसके अधिकार की प्रार्थना राजा स्वीकार नहीं कर सकता॥ ५२–५४॥

दत्तपुत्रं गृहीत्वा या स्वाधिकारं प्रदाय च।
जङ्गमे स्थावरे वाऽपि स्थातुं स्वं धर्मवर्त्मनि॥ ५५॥

अर्थ—स्त्री दत्तक पुत्र को लेकर और उसको सम्पूर्ण अधिकार देकर आप धर्म-कार्य में संलग्न होने के निमित्त जङ्गम तथा स्थावर द्रव्य उसको सौंप देती है ॥ ५५ ॥

पुनः स दत्तको काललब्धि प्राप्य मृतो यदि ।
भर्तृद्रव्यादि यत्नेन रक्षयेत् स्तैन्यकर्मतः ॥ ५६ ॥

अर्थ—पुनः काल-लब्धि के वश यदि वह पुत्र बिना विवाह ही मर जावे तो भर्ता के द्रव्य की चोरी आदि से रक्षा करनी चाहिए ॥५६॥

न तत्पदे कुमारोऽन्यः स्थापनीयो भवेत्पुनः ।
प्रेतेऽनूढे न पुत्रस्याज्ञाऽस्ति श्रीजिनशासने ॥ ५७ ॥

अर्थ—उस पुत्र का मरण हो जाने पर पुनः उस कुमार के पद पर दूसरे किसी को स्थापित करने की आज्ञा श्रीजिनशासन में नहीं है, यदि वह कुँवारा मर जावे ॥ ५७ ॥

सुतासुतसुतात्मीय भागिनेयेभ्य इच्छया ।
देयाद्धर्मेऽपि जामात्रेऽन्यस्मै वा ज्ञातिभोजने ॥ ५८ ॥

अर्थ— उस (मृतक पुत्र) के द्रव्य को दोहिता, दोहिती, भानजा, जमाई तथा किसी अन्य को दे सकते हैं तथा जाति के भोजन अथवा धर्म-कार्यों में लगा सकते हैं ॥ ५८ ॥

स्वयं निजास्पदे पुत्रं स्थापयेच्चेन्मृतप्रजाः ।
युक्त परमनूढस्य पदे स्थापयितुं न हि ॥ ५९ ॥

अर्थ—यदि पुत्र मर गया हो तो अपनी जगह पर पुत्र स्थापन करने की आज्ञा है, परन्तु अविवाहित पुत्र के स्थान पर स्थापन नहीं कर सकते हैं ॥ ५९ ॥

पित्रोः सत्वे न शक्तः स्यात् स्थावरं जङ्गमं तथा ।
विविक्रियं गृहीतु वा कर्तुं पैतामहं च सः ॥ ६० ॥

अर्थ—माता-पिता के होते हुए दत्तक पुत्र को उनके स्थावर व जङ्गम द्रव्य को गिरवी रखने तथा बेचने का अधिकार नहीं है ॥६०॥

पैतामहक्रमायाते द्रव्येऽनधिकृतिः स्मृता ।
श्वशुरस्य निजे कृत्ये व्ययं कर्तुं च सर्वथा ॥ ६१ ॥

अर्थ—श्वशुर की पैदा की हुई सम्पत्ति में और उसमें जो उसको पुरुखों से मिली है विधवा बहू को निजी कार्यों के लिए व्यय करने का कोई अधिकार नहीं है ॥ ६१ ॥

सुताज्ञया विना भक्तेऽभक्ते तु धर्मकर्मणि ।
मैत्रज्ञातिव्रतादौ तु व्ययं कुर्याद्यथोचितम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—(पिता) सुत की आज्ञा के बिना ही विभाग की हुई अथवा अविभक्त द्रव्य का व्यय (खर्च) मित्रादि सम्बन्धी जाति-व्रतादिकों में कर सकता है ॥ ६२ ॥

तन्मृतौ तु स्त्रियश्चापि व्ययं कर्तुमशक्तता ।
भोजनांशुकमात्रं तु गृह्णीयाद् वित्तमासतः ॥ ६३ ॥

अर्थ—उसके मर जाने पर उसकी स्त्री को जायदाद के पृथक् कर देने का अधिकार नहीं है। वह केवल भोजन-वस्त्र के वास्ते हैसियत के मुताबिक ले सकती है ॥ ६३ ॥

नोट—यहां पर रचयिता के विचार में यह बात है कि पु पिता की जीवित अवस्था में मर गया है, इसलिए "उसके मर जाने पर" का अभिप्राय "लड़के के मर जाने का" है।

सर्वद्रव्याधिकारस्तु व्यवहारे सुतस्य वै ।
न व्ययीकरणे रिक्थस्य हि मातृसमक्षकम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण द्रव्य का अधिकार व्यवहार करने में पुत्र को है, परन्तु माता की उपस्थिति में खर्च करने का नहीं ॥ ६४ ॥

सुते प्रेते सुतवधूर्भर्तृसर्वस्वहारिणी।
श्वश्वा सह कियत्कालं माध्यस्थ्येन हि स्थीयते ॥ ६५ ॥

अर्थ—पुत्र के मर जाने पर भर्ता के सम्पूर्ण द्रव्य की मालिक पुत्र की स्त्री होती है, परन्तु उसको चाहिए कि वह अपनी श्वश्रू (सास) के साथ कुछ काल पर्यन्त विनयपूर्वक रहे ॥ ६५ ॥

रक्षन्ती शयनं भर्तुः पालयन्ती कुटुम्बकम्।
स्वधर्मनिरता पुत्रं भर्तृस्थाने नियोजयेत् ॥ ६६ ॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करती हुई, तथा अपने धर्म में तत्पर, कुटुम्ब का पालन करती हुई, अपने पुत्र को भर्ता के स्थान पर अर्थात् भर्ता के द्रव्य का अधिकारी नियुक्त करे ॥ ६६॥

न तत्र श्वश्र्वैत्किञ्चिद्वदेदनधिकारतः।
नापि पित्रादिलोकानामधिकारोऽस्ति सर्वथा ॥ ६७ ॥

अर्थ—पुत्र को भर्ता की जगह में नियोजित करने में उसकी सास को रोकने का कुछ अधिकार नहीं है, और उसके माता-पिता आदि को भी कुछ अधिकार नहीं है ॥ ६७ ॥

दत्तं चतुर्विधं द्रव्यं नैव गृह्णन्ति चोत्तमाः।
अन्यथा सकुटुम्बास्ते प्रयान्ति नरकं ततः ॥ ६८ ॥

अर्थ—उत्तम पुरुष चारों प्रकार के दिए हुए द्रव्य को फिर ग्रहण नहीं करते। ऐसा करने से वे कुटुम्ब के साथ नरक के पात्र होते हैं ॥ ६८ ॥

बहुपुत्रयुते प्रेते भ्रातृषु क्लीवतादियुक्।
स्याच्चेत्सर्वे समान्भागान्नदद्युः पैतृकाद्धनात् ॥६९॥

अर्थ—बहुत पुत्रों को छोड़कर पिता के मर जाने पर यदि उन भाइयों में से कोई नपुंसकता आदि दोष सहित हो, तो उसको पिता के द्रव्य में से समान भाग नहीं मिल सकता है ॥६९॥

पङ्गून्मत्तक्लीवान्धखलकुब्जजडास्तथा ।

एतेऽपि भ्रातृभिः पोष्या न च पुत्रांशभागिनः ॥ ७० ॥

अर्थ—यदि भाइयों मे से कोई लँगड़ा, पागल तथा उन्मत्त, क्लीव, अन्धा, खल (दुष्ट), कुबड़ा तथा सिड़ी होवे तो अन्य भाइयों को अन्न-वस्त्र से उसका पोषण करना चाहिए। परन्तु वह पुत्र भाग का मालिक नहीं हो सकता ॥ ७० ॥

मृतवध्वाधिकारीशो बोधितव्यो मृदूक्तितः ।

न मन्येत पुरा भूपामात्यादिभ्यः प्रबोधयेत् ॥ ७१ ॥

भूयोऽपि तादृशः स्याच्चेदमात्याज्ञानुसारतः ।

पुरातनो नूतनो वा निष्कास्यो गृहतः स्फुटम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—मृत पति की विधवा स्त्री अपने द्रव्य के अधिकारी को कोमल वचन से समझावे, यदि नहीं माने तो राजा, मन्त्री आदिकों के समक्ष उसको समझावे। यदि फिर भी नहीं समझे तो मन्त्री की आज्ञा लेकर पुराना हो वा नवीन हो उसे घर से निकाल दे ॥७१-७२॥

रक्षणीयं प्रयत्नेन भर्त्रेव स्वं कुलस्त्रिया ।

कार्योऽन्य जनैर्योग्यैर्व्यवहारः कुलागतः ॥ ७३ ॥

अर्थ—अपने पति के समान कुलीन स्त्री को अपने द्रव्य का यत्न-पूर्वक रक्षण करना चाहिए और कुलक्रम के अनुसार अपने व्यवहार को भी दूसरे योग्य पुरुषों द्वारा चलाना चाहिए ॥ ७३ ॥

कुर्यात् कुटुम्बनिर्वाहं तन्मिषेण च सर्वथा ।

येन लोके प्रशंसा स्याद्धनवृद्धिश्च जायते ॥ ७४ ॥

अर्थ—इसी प्रकार से उसे चाहिए कि सर्वथा कुटुम्ब का निर्वाह करे; जिससे लोक में कीर्ति और धन की वृद्धि हो ॥ ७४ ॥

प्राहुः सद्गोत्रजः पुत्रो भर्ता इव कुलस्त्रिया ।

भर्तृस्थाने नियोक्तव्यो न श्वश्रवा स्वपतेः पदे ॥ ७५ ॥

अर्थ—भर्ता के समान वह कुलीन स्त्री किसी श्रेष्ठ गोत्र में पैदा हुए पुत्र को लेकर पति की गद्दी पर नियुक्त करे। उसके पति के लिए उसकी सास को गोद लेने की आज्ञा नहीं है ॥ ७५ ॥

शक्ता पुत्रवधूरेव व्ययं कुर्तुं च सर्वथा ।
न श्वश्र्वाश्चाधिकारोऽत्र जैनशास्त्रानुसारतः ॥ ७६ ॥

अर्थ—खर्च करने का अधिकार भी सर्वथा पुत्र की वधू को ही है। किन्तु जैन-सिद्धान्त के अनुसार उसकी सास को नहीं है ॥ ७६ ॥

कुर्यात्पुत्रवधूः सेवां श्वश्र्वाः पतिरिव स्वयम् ।
सापि धर्मे व्ययं त्विच्छेद्दद्यात्पुत्रवधूर्वसु ॥ ७७ ॥

अर्थ—उसको चाहिए कि जिस प्रकार उसका पति सेवा करता था उसी प्रकार श्वश्रू (सास) की सेवा करे। यदि सास को धर्म-कार्य करने की इच्छा हो तो उसको धन भी दे ॥ ७७ ॥

औरसो दत्तको मुख्यौ क्रीतसौतसहोदराः ।
तथैवोपनतश्चैव इमे गौणा जिनागमे ॥ ७८ ॥

अर्थ—जैन-शास्त्र के अनुसार पुत्रों में औरस और दत्तक मुख्य हैं। और क्रीत, सौत, सहोदर और उपनत गौण हैं ॥ ७८ ॥

दायादाः पिण्डदाश्चैव इतरे नाधिकारिणः ।
औरसः स्वस्त्रियां जातः प्रीत्या दत्तश्च दत्तकः ॥ ७९ ॥

अर्थ—यही दायाद हैं और पिण्डदान कर सकते हैं (अर्थात् नस्ल चला सकते हैं)। इनके अतिरिक्त और कोई न दायाद हैं और न नस्ल चला सकते हैं। जो अपनी स्त्री से उत्पन्न हुआ हो वह औरस है; जो प्रीतिपूर्वक गोद दिया गया हो वह दत्तक है ॥ ७९ ॥

द्रव्यं दत्वा गृहीतो यः स क्रीतः प्रोच्यते बुधैः ।
सौतश्च पुत्रतनुजो लघुभ्राता सहोदरः ॥ ८० ॥

अर्थ—जिसको रुपया देकर मोल लिया हो वह क्रीत है, ऐसा बुद्धिमानों का कथन है। जो लड़के का लड़का अर्थात् पोता हो वह सौत है, और माँ-जाये छोटे भाई का नाम सहोदर है ॥ ८० ॥

मातृपितृपरित्यक्तो दुःखितोऽस्मितरां तव ।
पुत्रो भवामीति वदन् विज्ञैरुपनतः स्मृतः ॥ ८१ ॥

अर्थ—जिसको माँ-बाप ने छोड़ दिया हो और जो दुःखी फिरता हुआ आकर यह कहे कि "मैं पुत्र होता हूँ" उसको बुद्धिमान् उपनत बताते हैं ॥ ८१ ॥

मृतपित्रादिकः पुत्रः समः कृत्रिम ईरितः ।
पुत्रभेदा इमे प्रोक्ता मुख्यगौणेतरादिकाः ॥ ८२ ॥

अर्थ—कृत्रिम वह पुत्र होता है जिसके माता-पिता मर गये हों और जो (अपने) पुत्र के सदृश हो। इस प्रकार मुख्य, गौण और अन्य पुत्रों की श्रेणी है ॥ ८२ ॥

तत्राद्यौ हि स्मृतौ मुख्यौ गौणाः क्रीतादयस्त्रयः ।
तथैवोपनताद्याश्च पुत्रकल्पा न पिण्डदाः ॥ ८३

अर्थ—इनमें से प्रथम के दो (अर्थात् औरस और दत्तक) मुख्य हैं। फिर तीन (अर्थात् क्रीत, सौत, सहोदर) गौण हैं, और उपनत और कृत्रिम की गिनती लड़कों में होती है परन्तु वे नस्ल नहीं चला सकते हैं ॥ ८३ ॥

मुक्त्युपायोद्यतश्चैकोऽविभक्तेषु च भ्रातृषु ।
स्त्रीधनं तु परित्यज्य विभजेरन् समं धनम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—यदि विभाग के पूर्व ही कोई भाई मुक्ति प्राप्त करने के निमित्त साधु हो गया हो तो स्त्री-धन को छोड़कर सम्पत्ति में सबके बराबर भाग लगाने चाहिएँ ॥ ८४ ॥

विवाहकाले पितृभ्यां दत्तं यदभूषणादिकम् ।
तदध्यग्निकृतं प्रोक्तमग्निब्राह्मणसाक्षिकम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—विवाह समय में जो माता-पिता ने भूषणादिक द्रव्य अग्नि और ब्राह्मणों की साक्षी में दिया हो वह अध्यग्नि कहा जाता है ॥ ८५ ॥

यत्कन्यया पितुर्गेहादानीतं भूषणादिकम् ।
अध्याहृनिकं प्रोक्तं पितृभ्रातृसमक्षकम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—जो धन पिता के घर से कन्या पिता व भाइयों के सामने दिया हुआ लावे उसको अध्याहृनिक अर्थात् लाया हुआ कहते हैं ॥ ८६ ॥

प्रीत्या यद्दीयते भूषा श्वश्र्वा वा श्वशुरेण वा ।
मुखेक्षणाङ्घ्रिग्रहणे प्रीतिदानं स्मृतं बुधैः ॥ ८७ ॥

अर्थ—जो धन-वस्त्रादि श्वशुर तथा सास ने मुखदिखाई तथा पादग्रहण के समय प्रीतिपूर्वक दिया उसको बुद्धिमान् लोग प्रीतिदान कहते हैं ॥ ८७ ॥

आनीतमूढकन्याभिर्द्रव्यभूषांशुकादिकम् ।
पितृभ्रातृपतिभ्यश्च स्मृतमौदयिकं बुधैः ॥ ८८ ॥

अर्थ—विवाह के पश्चात् पिता, भाई, पति से जो धन, भूषण, वस्त्रादि मिले वह औदयिक कहा जाता है ॥ ८८ ॥

परिक्रमणकाले यद्धेमरत्नांशुकादिकम् ।
दम्पतीकुलवामाभिरन्वाधेयं स्मृतं बुधैः ॥ ८९ ॥

अर्थ—विवाह समय में अपने पति तथा पति के कुल की स्त्रियों (कुटुम्बी स्त्रियां) से जो धन आया हो वह अन्वाधेय है ॥ ८९ ॥

एवं पञ्चविधं प्रोक्तं स्त्रीधनं सर्वसम्मतम् ।
न केनापि कदा ग्राह्यं दुर्भिक्षाऽऽपद्वृषादृते ॥ ९० ॥

अर्थ—इन पाँच प्रकारों की सम्पत्ति स्त्री-धन होती है। इसको दुर्भिक्ष, आपत्ति अथवा धर्म कार्य को छोड़कर किसी को भी लेना उचित नहीं है ॥ ९० ॥

पैतामहधनात्किञ्चिद्दातुं वाञ्छति सप्रजाः ।
भगिनीभागिनेयादिभ्यः पुत्रस्तु निषेधति ॥ ९१ ॥

अर्थ—बाबा के द्रव्य में से यदि कोई व्यक्ति अपनी भगिनी या भानजे आदि को कुछ देना चाहे तो उसका पुत्र उसको रोक सकता है ॥ ९१ ॥

बिना पुत्रानुमत्या वै दातुं शक्तो न वै पिता ।
मृते पितरि पुत्रस्तु ददत्केन निरुध्यते ॥ ९२ ॥

अर्थ—पुत्र की सम्मति बिना पिता को निःसन्देह जायदाद के दे डालने का अधिकार नहीं है, और पिता के मरने पर पुत्र देता हुआ किससे रोका जा सकता है ? ॥ ९२ ॥

गृहीते दत्तके पुत्रो धर्मपत्न्यां प्रजायते ।
स एवोष्णीपबन्धस्य योग्यः स्याद्दत्तकस्तु सः ॥ ९३ ॥
चतुर्थांशं प्रदाप्यैव भिन्नः कार्योऽन्यसाक्षितः ।
प्रागेवोष्णीपबन्धे तु जातोऽपि समभाग्भवेत् ॥ ९४ ॥

अर्थ—दत्तक पुत्र लेने के पश्चात् यदि औरस पैदा हो तो वही शिरोपाह बन्धन के योग्य है। दत्तक को चतुर्थ भाग देकर गवाहों के सम्मुख अलग कर देना चाहिए. यदि औरस पुत्र उत्पन्न होने से पूर्व ही शिरोपाह बँध गया हो तो दत्तक समान भाग का भोक्ता होता है ॥ ९३—९४ ॥

पतेरप्रजसो मृत्यौ तद्द्रव्याधिपतिर्वधूः ।
दुहितृप्रेमतः पुत्रं न गृह्णीयात्कदाचन ॥ ९५ ॥

न ज्येष्ठदेवरसुता दायभागाधिकारिणः ।
तन्मृतौ तत्सुता मुख्या सर्वद्रव्याधिकारिणी ॥९६॥

अर्थ—मर्द के निःसन्तान मर जाने पर उसकी विधवा उसकी सम्पत्ति की स्वामिनी होती है। यदि वह अपनी पुत्री के विशेष प्रेम के कारण कोई लड़का गोद न ले तो उसके मरने पर उसके जेठ देवरों के पुत्र उसके मालिक नहीं हो सकते किन्तु उसकी मुख्य पुत्री ही अधिकारिणी होती है ॥९५—९६॥

नोट—यह मसला वसीअत का है जिसके द्वारा माता अपनी पुत्री को अपना वारिस नियत करती है। यह वसीअत ज़बानी क़िस्म की है।

तन्मृतौ तत्पतिः स्वामी तन्मृतौ तत्सुतादिकाः ।
न पितृभ्रातृतज्जानामधिकारोऽत्र सर्वथा ॥९७॥

अर्थ—उस पुत्री के मरने पर उसका पति उसका वारिस होगा। उसके भी मरने पर उसके पुत्रादि मालिक होंगे। परन्तु उसके पिता के भाई आदि की सन्तान का कुछ अधिकार नहीं है ॥९७॥

प्रेते पितरि यत्किञ्चिद्धनं ज्येष्ठकरागतम् ।
विद्याध्ययनशीलानां भागस्तत्र यवीयसाम् ॥९८॥

अर्थ—पिता के मरने पर बड़े भाई के हाथ जो द्रव्य आया है उसमें विद्या के पठन में संलग्न छोटे भाइयों का भी भाग है ॥९८॥

नोट—यह रत्ता छोटे भाइयों के गुज़ारा के निमित्त है जो विद्योपार्जन में संलग्न हों।

अविद्यानां तु भ्रातॄणां व्यापारेण धनार्जनम् ।
पैत्र्यं धनं परित्यज्याऽन्यत्र सर्वे समांशिनः ॥९९॥

अर्थ—विद्या रहित भाइयों को व्यापार से धन को उपार्जन करना चाहिए, और पिता के धन को छोड़कर शेष द्रव्य में सबका समान भाग होना चाहिए ॥९९॥

नोट—पिता के धन से अभिप्राय पिता के अविभाग योग्य वस्तु से है (देखो आगामी श्लोक)। शेष सम्पत्ति वह है जो विभाग योग्य है।

पितृद्रव्यं न गृह्णीयात्पुत्रेष्वेक उपार्जयेत् ।
भुजाभ्यां यन्न भाज्यं स्यादागतं गुणवत्तया ॥१००॥

अर्थ—गुणों से एकत्रित किया हुआ अविभाज्य जो पिता का द्रव्य है, उसे सब लड़के बाट नहीं सकते हैं। उसको केवल एक ही लड़का लेगा और वह अपने बाहु-बल से उसकी वृद्धि करेगा ॥१००॥

पत्याङ्गनार्यै यद्दत्तमलङ्कारादि वा धनम् ।
तद्विभाज्यं न दायादैः प्रान्ते नरकभीरुभिः ॥१०१॥

अर्थ—पति ने स्त्री को जो अलंकारादि अथवा धनादि दिया हो उसका, नरक से भयभीत दायादों (विभाग लेनेवालों) को, विभाग नहीं करना चाहिए ॥१०१॥

येन यत्स्वं खनेर्लब्धं विद्यया लब्धमेव च ।
मैत्रं स्त्रीपक्षलोकाच्चागतं तद्भजयेन्न कैः ॥१०२॥

अर्थ- जो द्रव्य किसी को खान से मिला हो, अथवा विद्या द्वारा मिला हो, मित्र से मिला हो, अथवा स्त्री-पक्ष के मनुष्यों से मिला हो, वह भाग के योग्य नहीं है ॥१०२॥

बहुपुत्रेष्वशक्तेषु प्रेते पितरि यद्धनम् ।
येन प्राप्तं स्वशक्त्या नो तत्रस्याद्भागकल्पना ॥१०३॥

अर्थ—बहुत से अशक्त (अयोग्य) पुत्रों मे से पिता के मर जाने पर जो किसी ने अपने पौरुष से धन एकत्रित किया हो उसमें भाग-कल्पना नहीं है ॥१०३॥

पित्रा सर्वे यथाद्रव्यं विभक्तास्ते निजेच्छया ।
एकत्रीकृत्य तद्द्रव्यं सह कुर्वन्ति जीविकाम् ॥१०४॥

विभजेरन् पुनर्द्रव्यं समांशैर्भ्रातरः स्वयम् ।
न तत्र ज्येष्ठांगस्यापि भागः स्याद्विषमो यतः ॥१०५॥

अर्थ—वे पुत्र जिन्हें पिता ने कुछ-कुछ द्रव्य देकर अपनी इच्छा कर दिये हों और वे जो द्रव्य को इकट्ठा कर साथ मिलकर ही जीविका करते हों अपने आप समान भाग से द्रव्य का विभाग करें। उसमें बड़े पुत्र को अधिक भाग नहीं मिल सकता ॥१०४–१०५॥

जाते विभागे बहुषु पुत्रेष्वेको मृतो यदि ।
विभजेरन् समं रिक्थं सभगिन्यः सहोदराः ॥१०६॥

अर्थ—विभाग हो जाने पर बहुत पुत्रों में से यदि एक का मरण हो जाय तो भाई और बहन उसका समान भाग कर सकते हैं ॥१०६॥

नोट—बहिन को यहाँ पर हिस्सा उसके विवाह के खर्च के लिए दिया गया है, क्योंकि वह वारिस नहीं है।

निह्नुते लोभतो ज्येष्ठो द्रव्यं भ्रातॄन् यवीयसः ।
वञ्चते राजदण्ड्यः स्यात् स भागार्हो न जातुचित् ॥१०७॥

अर्थ—लोभ के वश होकर ज्येष्ठ भाई द्रव्य को छिपावे और यदि छोटे भाइयों को ठगे तो राजा द्वारा दण्ड देने योग्य है, तथा वह अपना भाग भी नहीं पा सकता ॥१०७॥

द्यूतादिव्यसनासक्ताः सर्वे ते भ्रातरो धनम् ।
न प्राप्नुवन्ति दण्डयाश्च प्रत्युतो धर्मविच्युताः ॥१०८॥

अर्थ—धर्म को छोड़कर द्यूतादि व्यसनों में यदि कोई भाई आसक्त हो जावे तो उसको धन नहीं मिल सकता, प्रत्युत वह दण्ड के योग्य है ॥ १०८ ॥

विभागोत्तरजातस्तु पैत्र्यमेव लभेद्धनम् ।
तदल्पं चेद्विवाहं तु कारयन्ति सहोदराः ॥१०९॥

अर्थ—विभाग के पश्चात् जो पुत्र उत्पन्न हो वह पिता के भाग का द्रव्य ही ले सकता है, अधिक नहीं। यदि वह बहुत छोटा हो तो उसका विवाह उसके भाइयों को करना चाहिए ॥१०९॥

पुत्रस्याप्रजसो द्रव्यं गृह्णीयात्तद्वधूः स्वयम्।
तस्यामपि मृतायां तु सुतमाता धनं हरेत् ॥११०॥

अर्थ—स्वपुत्रोत्पत्ति के बिना ही यदि पुत्र मर जाय तो उसके द्रव्य को उसकी स्त्री ले। उसके भी मर जाने पर पुत्र की माता ले ॥११०॥

ऋणं दत्वाऽवशिष्टं तु विभजेरन् यथाविधि।
अन्यथोपार्ज्यते द्रव्यं पितृपुत्रैः ससाहसैः ॥ १११॥

अर्थ—ऋण देकर जो बचा हो उसका यथाविधि विभाग कर्तव्य है; यदि कुछ न बचे तो पिता और पुत्रों को साहसपूर्वक कमाना चाहिए ॥ १११ ॥

कूपालङ्कारवासांसि न विभाज्यानि कोविदैः।
गोधनं विषमं चैव मन्त्रिदूतपुरोहिताः ॥ ११२ ॥

अर्थ—कूप, अलङ्कार, वस्त्र, गोधन तथा अन्य भी मन्त्री दूत पुरोहितादि विषय व द्रव्यों का विभाग विद्वानों को करना नहीं चाहिए ॥११२॥

पुत्रश्चेज्जीवतोः पित्रोर्मृतस्तन्महिला वसौ।
पैतामहे नाधिकृता भर्तृवच्च पतिव्रता ॥ ११३ ॥
भर्तृसञ्चकरत्तायां नियता धर्मतत्परा।
सुतं याचेत श्वश्रूं हि विनयानतमस्तका ॥ ११४ ॥

अर्थ—पिता-माता के जीते ही पुत्र मर गया हो तो उसकी सुशीला स्त्री का पैतामह के धन पर अधिकार नहीं हो सकता, किन्तु पतिव्रता, भर्त्ता के शयन का रक्षण करती, धर्मतत्पर, विनय से मस्तक नीचा कर श्वश्रू से पुत्र की याचना करे ॥ ११३—११४ ॥

नोट—पोते की विधवा अपने श्वशुर के पिता के धन की वारिस नहीं है।

स्वभर्तृद्रव्यं श्वशुरश्वश्रूभ्यां स्वकरे यदा।
स्थापितं चेन्न शक्ताप्तुं पतिदत्तेऽधिकारिणी ॥ ११५ ॥

अर्थ—अपने पति का द्रव्य भी जो श्वशुर और श्वश्रू को दे दिया गया हो उसे वह नहीं ले सकती; केवल पति से लब्ध द्रव्य की ही वह अधिकारिणी है ॥ ११५ ॥

नोट—अभिप्राय उस धन से है जो पति ने अपने माता-पिता को दे डाला है, क्योंकि यह वापस नहीं होता है।

प्राप्नुयाद्विधवा पुत्रं चेद्गृह्णीयात्तदाज्ञया।
तद्वंशजञ्च स्वलघुं सर्वलक्षणसंयुतम् ॥ ११६ ॥

अर्थ—विधवा स्त्री यदि श्वश्रू की आज्ञा से कोई लड़का गोद ले तो अपने वंश के, अपने से छोटे, सर्वलक्षण-संयुक्त, ऐसे पुत्र को ले सकती है ॥ ११६ ॥

जिनोत्सवे प्रतिष्ठादौ सौहृदे धर्मकर्मणि।
कुटुम्बपालने शक्ता नान्यथा साऽधिकारिणी ॥ ११७ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र के उत्सव, प्रतिष्ठादि, जाति-सम्बन्धी, धर्म-कर्मादि, कुटुम्ब-पालन आदि कार्यों में (लड़के की) विधवा व्यय कर सकती है। दूसरे प्रकार में अधिकार नहीं है ॥ ११७ ॥

नोट—यहाँ सङ्केत ऐसी विधवा बहू की ओर है जिसको लड़का गोद लेने की आज्ञा उसकी सास ने दे दी है। आज्ञा का परिणाम यह है कि सम्पत्ति दादी की न रहकर पोते की हो जाती है। ख़र्च के बारे में जो हिदायत क़ानून के इस श्लोक में है उसका सम्बन्ध ऐसे समय से है जब कि विधवा बहू अपने दत्तक पुत्र की ज़ात व जायदाद की वलिया (संरक्षिका) उसकी नाबालिग़ी में हो।

इति संक्षेपतः प्रोक्तो दायभागविधिर्मया-
पासकाध्ययनात्सारमुद्धृत्य क्लेशहानये ॥ ११८ ॥
एवं पठित्वा राज्यादिकर्म यो वा करिष्यति।
लोकं प्राप्स्यति सत्कीर्तिं परत्राऽप्स्यति सद्गतिम् ॥ ११९ ॥

अर्थ—इस प्रकार संक्षेप से उपासकाध्ययन से सार लेकर क्लेश की हानि के लिए दायभाग मैंने कहा है। इसे पढ़कर यदि कोई राज्यादि कार्यों को करेगा तो इस लोक मे कीर्ति तथा परलोक में सद्गति को प्राप्त होगा ॥ ११८–११९ ॥

श्रीवर्द्धमान-नीति

प्रणम्य परया भक्त्या वर्धमानं जिनेश्वरम् ।
प्रजानामुपकाराय दायभागः प्रवक्ष्यते ॥ १ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट भक्ति से श्रीवर्द्धमान जिनेश्वर को नमस्कार कर प्रजा के उपकार के लिए दायभाग का स्वरूप कहता हूँ ॥ १ ॥

औरसो निजपत्नीजस्तत्समो दत्तकः स्मृतः ।
इमौ मुख्यौ पुनर्दत्त क्रीतसौतसहोदराः ॥ २ ॥
इमे गौणाश्च विज्ञेया जैनशास्त्रानुसारतः ।
इतरे नैव दायादाः पिण्डदाने कदाचन ॥ ३ ॥
उत्पन्ने त्वौरसे पुत्रे चतुर्थांशहराः सुताः ।
सवर्णा असवर्णास्ते भुक्त्याच्छादनभागिनः ॥ ४ ॥

अर्थ—निज पत्नी से उत्पन्न लड़का औरस पुत्र है और उसी की भाँति दत्तक (अर्थात् दिया हुआ, गोद लिया हुआ) लड़का होता है। यह दोनों पुत्र मुख्य हैं। फिर दत्त, क्रीत, सौत और सहोदर जैन-शास्त्र के अनुसार गौणपुत्र हैं। इनके अतिरिक्त और कोई पुत्र दायाद नहीं हैं, और न पिण्डदान कर सकते हैं (अर्थात् नस्ल नहीं चला सकते हैं)। औरस पुत्र के उत्पन्न होने पर यदि वह पिता के वर्ण की माता से उत्पन्न हुआ है (गोद के) पुत्र को चौथाई भाग दिया जाता है। यदि औरस पुत्र अन्य वर्ण की माता से उत्पन्न हुआ है तो वह केवल रोटी-कपड़ा पाता है ॥ २–४ ॥

नोट—अन्य वर्ण से अभिप्राय यहाँ केवल शूद्राणी स्त्री से है।

गृहीते दत्तके पुत्रे धर्मपत्न्यां प्रजायते ।
स एवोष्णीषबन्धस्य योग्यः स्याद्दत्तकस्तु सः ॥ ५ ॥

चतुर्थांशं प्रदाप्यैव भिन्नः कार्योऽन्यसाक्षितः ।
प्रागेवोष्णीषबन्धे तु जातोऽपि समभागयुक् ॥ ६ ॥
(देखो भद्रबाहुसंहिता श्लो० ९३—९४) ॥ ५–६ ॥

असंस्कृतं तु संस्कृत्य भ्रातरो भ्रातरं पुनः ।
शेषं विभज्य गृह्णीयुः समं तत्पैतृकं धनम् ॥ ७ ॥

अर्थ—भाइयों में जो भाई अविवाहित हो उसका विवाह करके पीछे अवशिष्ट धन का सब भाई समान भाग कर लें ॥ ७ ॥

पित्रोरूर्ध्वं भ्रातरस्ते समेत्य वसु पैतृकम् ।
विभजेरन्समं सर्वे जीवतो पितुरिच्छया ॥ ८ ॥
(देखो भद्रबाहुसंहिता श्लोक ४) ॥ ८ ॥

अनूढा यदि कन्या स्यादेकावर्द्धाः सहोदरैः ।
स्वांशात्सर्वे तुरीयांशमेकीकृत्वा विवाहयेत् ॥ ९ ॥
(देखो भद्रबाहुसंहिता श्लोक १९) ॥ ९ ॥

सहोदरैर्निजांबाया भागः सम उदाहृतः ।
साधिकं व्यवहारार्थं मृतौ सर्वेऽशभागिनः ॥ १० ॥
(देखो भद्रबाहुसंहिता श्लोक २१) ॥ १० ॥

पत्नीपुत्रौ भ्रातृजाश्च सपिण्डस्तत्सुतासुतः ।
बान्धवो गोत्रजा ज्ञात्या द्रव्यंशा ह्युत्तरोत्तरम् ॥ ११ ॥
तदभावे नृपो द्रव्यं धर्मकार्ये प्रवर्त्तयेत् ।
निष्पुत्रस्य मृतस्यैव सर्ववर्णेष्वयं क्रमः ॥ १२ ॥

अर्थ—कोई पुरुष मर जाय तो उसके धन के मालिक इस क्रम से होते हैं, स्त्री, पुत्र, भतीजा, सपिण्ड, पुत्री का पुत्र, बन्धु, गोत्रज, ज्ञात्या । इन सबके अभाव में राजा उस धन को धर्म-कार्य में लगा दे । यह नियम सब वर्णों के लिए है ॥ ११—१२ ॥

ऊढपुत्र्यां परेतायामपुत्रायां च तत्पतिः ।
स स्त्रीधनस्य द्रव्यस्याधिपतिश्च भवेत्सदा ॥ १३ ॥
(देखो भद्रबाहुसंहिता २९) ॥ १३ ॥

पत्युर्धनहरी पत्नी या स्याच्चेद्वरवर्णिनी ।
सर्वाधिकारं पतिवत् सति पुत्रेऽथवाऽसति ॥ १४ ॥

अर्थ—विधवा स्त्री पतिव्रता हो तो पति के सम्पूर्ण धन की स्वामिनी होगी। उसको पति की भाँति पूरा अधिकार प्राप्त होता है चाहे लड़का हो या न हो ॥ १४ ॥

पितृद्रव्यादिवस्तूनां मातृसत्त्वे सुतस्य हि ।
सर्वथा नाधिकारोऽस्ति दानविक्रयकर्मणि ॥ १५ ॥

अर्थ—माता के होते हुए दत्तक अथवा आत्मज पुत्र को पिता की स्थावर जङ्गम वस्तु के दान करने वा बेचने का सर्वथा अधिकार नहीं है ॥ १५ ॥

योऽप्रजा व्याधिनिर्मग्नश्चैकाकी स्त्र्यादिमोहितः ।
स्वकीय व्यवहारार्थं कल्पयेल्लेखपूर्वकम् ॥ १६ ॥
अधिकारिणमन्यं वै ससाक्षि स्त्रीमनोनुगम् ।
कुलद्वयविशुद्धं च धनिनं सर्वसम्मतम् ॥ १७ ॥

अर्थ—संतान रहित अकेला पुरुष व्याधि आदि रोग से दुःखित होकर स्त्री के मोहवश (अर्थात् उसके इन्तिज़ाम के लिए) यदि अपने धन के प्रबन्धार्थ किसी प्राणी को प्रबन्धकर्ता बनाना चाहे तो लिखित लेख द्वारा गवाहों के समक्ष ऐसे प्राणी को नियत कर सकता है कि जो लिखनेवाले की स्त्री की आज्ञा पालनेवाला है, जो जाति और कुल की अपेक्षा उच्च है, जो धनवान् है और जो सबको मान्य है ॥ १६-१७ ॥

औरसो दत्तको वाऽपि कुर्यात्कर्म्म कुलागतम् ।
विशेषं तु न कुर्याद्वै मातुराज्ञां बिना सुधीः ॥ १८ ॥
शक्तश्चेन्मातृभक्तोऽपि विनयी सत्यवाक्शमी ।
सर्वस्वांतहरो मानी विद्याध्ययनतत्परः ॥ १९ ॥

अर्थ—औरस तथा दत्तक पुत्र माता की आज्ञा के अनुकूल चलनेवाला, योग्य, शान्तिवान्, सत्यवक्ता, विनयवान्, मातृभक्त, विद्याध्ययन-तत्पर इत्यादि गुण-युक्त हो तो भी कुलागत व्यवहार के व्यतिरिक्त विशेष कार्य माता की आज्ञा बिना नहीं कर सकता है ॥ १८—१९ ॥

गृहीतदत्तकः स्वीयं जीवितप्राप्तसंशयः ।
परो वा कृतमल्लेख्यं दत्वा स्वगृहसाधने ॥ २० ॥
आर्यांगंडदशं बन्धुभूपाधिकृतिसाक्षिकम् ।
स्वयं नियोजयेत्सद्यः प्रायाद्भूयः परासुतां ॥ २१ ॥
प्राप्ताधिकारः पुरुषः प्रतिकूलो भवेद्यदि ।
मृतपत्नी तदादाय लेखभर्तृकृतं ततः ॥ २२ ॥
स्वयंकुलागतं चान्यनरैः रीतिं प्रचालयेत् ।
पतिस्थापितसर्वस्वं रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ २३ ॥

अर्थ—यदि किसी व्यक्ति ने पुत्र गोद लिया है और उसको अपनी ज़िन्दगी का भरोसा नहीं है तो उसको चाहिए कि वह अपने ख़ान्दान की रक्षा की ग़रज़ से लेख द्वारा किसी व्यक्ति को अपनी जायदाद का प्रबन्धकर्ता नियत कर दे ॥ २० ॥

बिरादरी के लोगों और राजा के समक्ष दस्तावेज़ (लेख) लिख देने के पश्चात् अपनी जायदाद की आमदनी उसके सपुर्द कर दे; फिर यदि वह मर जावे और वह रक्षक उसकी विधवा के प्रतिकूल हो जावे तो वह विधवा उसको हटाकर उस लेख के अनुसार जायदाद

का कुल के व्यवहार के अनुकूल प्रबन्ध करे और अपने प्रयत्न से उसकी रक्षा करे ॥ २१—२३ ॥

तन्मिषेणैव निर्वाहं कुर्यात्सा स्वजनस्य हि ।

कुर्याद्धर्मज्ञातिकृत्ये स्वतूनामधिविक्रये ॥ २४ ॥

अर्थ—उससे अपना निर्वाह करे और अपने कुटुम्ब का पालन करे। धर्म्म-कार्य तथा ज्ञाति-कार्यों के लिए विधवा स्त्री को अपने पति का धन खर्च करने तथा गिरवी रखने या बेचने का अधिकार है ॥२४॥

प्रतिकूलो भवेत्पुत्रः पितृभ्यां यदि सर्वथा ।

तत्पित्रादीन्समाहूय बोधयेच्च मृदूक्तितः ॥ २५ ॥

पुनश्चापि स्वयं दर्पाद्दुर्जनोक्त्या हि तादृशः ।

तापयित्वा सुताद्धातं बन्धुभूपाधिकारिणः ॥ २६ ॥

तदाज्ञाँ पुनरादाय निष्कास्यो गृहतो ध्रुवम् ।

न तत्पूत्कारसंवादः श्रोतव्यो राजपंचभिः ॥ २७ ॥

पुनश्चान्यशिशुं भर्तुः स्थाने संयोजयेद्वधूः ।

सर्ववर्णेषु पुत्रो वै सुखाय गृह्यते यतः ॥ २८ ॥

विपरीतो भवेद्वत्सः पित्रा निःसार्यते ध्रुवम् ।

विवाहितोऽपि भूपाज्ञापूर्वकं जनसाक्षितः ॥२९ ॥

अर्थ—दत्तक पुत्र यदि माता-पिता से प्रतिकूल हो जाय तो उसके असली माता-पिता को बुलाकर उसको नर्मी के साथ समझावे ॥२५॥

यदि फिर भी वह दुष्टता अथवा ग़रूर के कारण न समझे तो उससे नाता तोड़कर भाई-बन्धुओं और राजा और राजकर्मचारियों की आज्ञा लेकर उसको घर से निकाल दे। फिर राजा और पंच लोग उसकी फ़रयाद नहीं सुन सकते। इसके पश्चात् वह औरत (दत्तक पुत्र की माता) दूसरा पुत्र गोद ले सकती है। क्योंकि सब वर्णों में पुत्र सुख के लिए ही लिया जाता है ॥ २६—२८ ॥

गोद का पुत्र यदि प्रतिकूल हो जाय तो, चाहे वह विवाहित हो, राजा और बन्धुजन की साक्षी से निःसन्देह पिता उसको घर से निकाल सकता है ॥ २९ ॥

दत्तपुत्रं गृहीत्वा यः स्वाधिकारं प्रदत्तवान् ।
जङ्गमं स्थावरं वाऽपि स्थातुं स्वं धर्म्मवर्त्मनि ॥ ३० ॥
(देखो भद्रबाहुसंहिता ५५) ॥ ३० ॥

पुनः सो दत्तकः काललब्धिं प्राप्य मृतो यदि ।
भर्तृद्रव्यादि यत्नेन रक्षयेत् स्तैन्यकर्म्मतः ॥ ३१ ॥
(देखो भद्रबाहुसंहिता ५६) ॥ ३१ ॥

न तत्पदं कुमारोऽन्यः स्थापनीयो भवेत्पुनः ।
प्रेतेऽनूढे न पुत्रस्याज्ञाऽस्ति श्रीजैनशासने ॥ ३२ ॥
(देखो भद्रबाहु संहिता ५७) ॥ ३२ ॥

सुतासुतसुतात्मीयभागिनेयेभ्य इच्छया ।
देयाद्धर्मेऽपि जामात्रेऽन्यस्मै वा ज्ञातिभोजने ॥ ३३ ॥
(देखो भद्रबाहुसंहिता ५८) ॥ ३३ ॥

स्वयं निजास्पदे पुत्रं स्थापयेच्चेन्मृतप्रजा ।
युक्तं परमनूढस्य पदे स्थापयितुं न हि ॥ ३४ ॥
(देखो भद्रबाहुसंहिता ५९) ॥ ३४ ॥

श्वशुरस्थापिते द्रव्ये श्वश्रूसत्वेऽथवा वधूः ।
नाधिकारमवाप्नोति भुक्त्याच्छादनमंतरा ॥ ३५ ॥
दत्तगृहादिकं कार्यं सर्वं श्वश्रूमनोनुगम् ।
करणीयं सदा वध्वा श्वश्रूमातृसमा यतः ॥ ३६ ॥

अर्थ—सास के होते हुए मृत पुत्र की वधू को श्वशुर के द्रव्य में भोजन-वस्त्रादिक के व्यतिरिक्त और कुछ अधिकार नहीं है। पुत्र

को गोद लेकर उसको उचित है कि वह सब कार्य्य सास की आज्ञा के अनुकूल करे, क्योंकि सास माता समान होती है ॥ ३५—३६ ॥

पितृद्रव्याविनाशेन यदन्यत्स्वयमर्जितम् ।
मैत्रमौद्वाहिकं चैवान्यद्भ्रातृणां न तद्भवेत् ॥३७॥
पितृक्रमागतं द्रव्यं हृतमप्यानयेत्परैः ॥
दायादेभ्यो न तद्दद्याद्विद्यया लब्धमेव च ॥३८॥

अर्थ—अनेक भाइयों में से एक भाई पिता के द्रव्य को विनाश न करता हुआ स्वयं चाकरी, युद्ध, विद्या द्वारा धन उपार्जन करे वा विवाह में या मित्र से पावे अथवा पिता के समय का डूबा हुआ धन निज पराक्रम से निकाले उसमें किसी का कुछ भाग न होगा॥३७—३८॥

विवाहकाले पतिना पितृपितृव्यभ्रातृभिः ।
मात्रा वृद्धभगिन्या वा पितृश्वस्रा यदर्पितम् ॥३९॥
वस्त्रभूषणपात्रादि तत्सर्वं स्त्रीधनं मतम् ।
तत्तु पञ्चविधं प्रोक्तं विवाहसमयदिनम् ॥४०॥

अर्थ—विवाह के समय पति तथा पति के पिता तथा स्वपिता-चाचा, भाई, माता, वृद्ध भगिनी अथवा बुवा ने वस्त्र-आभूषण पात्रादिक जो दिया वह सब स्त्री-धन अध्यग्नि है। यह पाँच प्रकार का होता है। विवाह के दिन का दिया होता है ॥३९—४०॥

पितृगृहात्पुनर्नीतं कन्याया भूषणादिकम् ।
अध्याहृनिकं प्रोक्तं भ्रातृबन्धुसमक्षकम् ॥४१॥

अर्थ—जो आभूषण आदि पिता के घर से कन्या भाई-बन्धु-जन के सम्मुख लावे वह अध्याहृनिक कहलाता है ॥४१॥

दत्तं प्रीत्या च यत्श्वश्र्वा भूषणादि श्वशुरेण वा ।
मुखेक्षणांघ्रिग्रहणे प्रीतिदानं तदुच्यते ॥४२॥

अर्थ—सास-ससुर ने जो कुछ मुखदिखाई अथवा पाँव पड़ने के समय प्रीतिपूर्वक दिया हो वह प्रीतिदान स्त्रीधन है ॥४२॥

ऊढया कन्यया चैवं यत्तु पितृगृहात्तथा ।
भ्रातुः सकाशादादत्तं धनमौदयिकं स्मृतम् ॥४३॥

अर्थ—विवाह के पीछे माता-पिता के रिश्तेदारों से जो कुछ मिला हो वह औदयिक है ॥४३॥

विवाहे सति यद्दत्तमंशुकं भूषणादिकम् ।
कन्याभर्तृकुलस्त्रीभिरन्वाधेयं तदुच्यते ॥४४॥

अर्थ—जो कुछ गहना इत्यादि पति के कुटुम्ब की स्त्रियों से विवाह के समय प्राप्त हुआ हो वह अन्वाधेय कहलाता है ॥४४॥

एवं पञ्चविधं प्रोक्तं स्त्रीधनं सर्वसम्मतम् ।
न केनापि कदा ग्राह्यं दुर्भिक्षाऽपद्वृषादृते ॥४५॥

अर्थ—यह पाँच प्रकार का स्त्रीधन है। इसको दुर्भिक्ष, कड़ी आपत्ति के समय अथवा धर्म-कार्य के अतिरिक्त कोई नहीं ले सकता है ॥४५॥

दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ प्रतिरोधके ।
गृहीतं स्त्रीधनं भर्त्ता न स्त्रियै दातुमर्हति ॥४६॥

अर्थ—दुर्भिक्ष में, धर्म-कार्य में, रोग की दशा में, (व्यापार आदि की) बाधाओं के दूर करने के लिए यदि भर्ता स्त्रीधन को व्यय कर दे तो उसको लौटाने की आवश्यकता नहीं ॥४६॥

पित्रोः सत्वे न शक्तः स्यात्स्थावरं जंगमं तथा ।
विविक्रयं ग्रहीतुं वा कर्तुं पैतामहं च सः ॥४७॥

(देखो भद्रबाहुसंहिता ६०) ॥ ४७ ॥

मुक्त्युपायोद्यतश्चैको विभक्तेषु च भ्रातृषु ।
स्त्रीधनं तु परित्यज्य विभजेरन्समं धनम् ॥४८॥

अर्थ—यदि बाँट के पूर्व भाइयों में से कोई भाई साधु हो गया है तो स्त्रीधन को छोड़कर और सब द्रव्य के समान भाग लगाये जावेंगे ॥४८॥

अप्रजाश्चेत्स्वद्रव्याद्यद्भगिनीपुत्रितत्सुतात् ।
मातृबंधुजनांश्चैव तथा स्त्रीपक्षजानपि । ४९॥
विभक्तादविभक्ताद्धि द्रव्यात्किंचिच्च दित्सति ।
तद्भ्रातरो निषेद्धारो भवेयुरतिकोपिता: ॥५०॥

अर्थ—यदि किसी व्यक्ति के पुत्र न हो और वह अपनी सम्पत्ति को अपनी बहन या बेटी या उनके पुत्रों को देना चाहे या माता अथवा स्त्री के कुटुम्ब के लोगों को देना चाहे तो चाहे वह सम्पत्ति विभक्त हो अथवा अविभक्त हो उसके भाई उसमें उज्र कर सकते हैं यदि वह उससे अति असंतुष्ट हो ॥४९—५०॥

यस्यैतेषु न कोऽप्यस्ति स द्रव्यं च यथेच्छया ।
सुपथे कुपथे वापि दित्सन्वध्वा निवार्यते ॥५१॥

अर्थ—यदि किसी के भाई न हों तो उसकी स्त्री भी उसको जायदाद के दूर करते समय, चाहे वह अच्छे कार्य के लिए हो या बुरे के लिए, रोक सकती है ॥५१॥

येषां विभक्तद्रव्याणां मृते ज्येष्ठे कनिष्ठके ।
भ्रातरस्तत्सुताश्चैव सोदरास्तत्समांशिन: ॥५२॥

अर्थ—बाँट के पश्चात् यदि अनेक भाइयों में से बड़ा छोटा कोई एक मर जाय तो उसका धन उसके शेष सब भाई वा भाइयों के पुत्र समान भाग में बाँट लें ॥ ५२ ॥

पंगुरंधश्चिकित्स्यश्च पतितक्लीवरोगिण: ।
जडोन्मत्तौ च त्रस्तांग: पोषणीयो हि भ्रातृभि: ॥ ५३ ॥

अर्थ—लँगड़े, अन्धे, रोगी, नपुंसक, पागल, अङ्गहीन भाई का पालन-पोषण शेष भाइयों को करना चाहिए ॥ ५३ ॥

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत् ।
न तं भजेरन्दायादाः भजमानाः पतन्ति ते ॥५४॥

अर्थ—पति के होते हुए जो स्त्री जितने आभूषण धारण करती रहती है उनकी बाँट नहीं होती है। अगर कोई उसकी भी बाँट करें तो वे नीच समझे जावेंगे ॥५४॥

स्वभर्तृद्रव्यं श्वशुरश्वश्रूभ्यां स्वकरे यदा ।
स्थापितं चेन्न शक्ताप्तु पतिदत्तेऽधिकारिणी ॥५५॥
प्राप्नुयाद्विधवा पुत्रं चेदगृह्णीयात्तदाज्ञया ।
तद्वंशजं च स्वलघु सर्वलक्षणसंयुतम ॥५६॥

(देखो भद्रबाहु संहिता ११५—११६) ॥ ५५—५६ ॥

राजा निःस्वामिकं रिक्थ मात्र्यब्दं सुनिधापयेत् ।
स्वामूयासुतत्र शक्तस्तत्परतस्तु नृपः प्रभुः ॥५७॥

अर्थ—जिस धन का कोई स्वामी निश्चय न हो उसको राजा तीन वर्ष तक सुरक्षित रक्खे; (यदि उस समय भी) कोई अधिकारी न हो तो उसको राजा स्वयं ग्रहण करे ॥५७॥

इन्द्रनन्दि जिनसंहिता

पणमिय वीर जणेंदं णाउण पुराकयं महाधम्म ।
सउवासुज्झयणंगं दायविभागं समासदो वोत्थे ॥१॥

अर्थ—श्री महावीर स्वामी (वर्द्धमान जिनेन्द्र) को नमस्कार करके और उपासकाध्ययन से प्रथम कहा हुआ धर्म जानके उसी के अनुकूल संक्षेप से मैं दायभाग कहूँगा ॥१॥

पुत्तो पित्त धणेहिं ववहारे जं जहाय कप्पेई ।
पोतो दायविभागो अप्पडि बंहोस पडिवं हो ॥२॥

अर्थ—पुत्र पिता के धन को व्यवहार से इच्छानुसार बरतता है । पोता उसको प्राप्त करता है चाहे वह अप्रतिबन्ध हो चाहे सप्रतिबन्ध ॥२॥

जीवदु भत्ता जं धणु णिय भज्ज' सं पडुव्व सं दिण्णं ।
भुंजीद थावरं विणु जहेत्थु सातस्स भोयरिहि ॥३॥

अर्थ—और जो कि स्वामी (पति) ने अपने जीते स्वभार्या (निज स्त्री) को जंगम धन (माल मनकूला) प्रेम से दिया हो वह उसको इच्छानुसार भोग सकती है, परन्तु स्थावर जायदाद को नहीं ॥३॥

रयण धण धण्ण जाई सव्वस्स हवे पदू पिदा मुक्खो ।
थावर धणस्स सव्वस्स इत्थि पिदा पिदा महाणावि ॥४॥

अर्थ—सर्व रत्न, मवेशी, धान्य आदि का स्वामी मुख्य पिता है, परन्तु सम्पूर्ण स्थावर धन का स्वामी पिता या पितामह नहीं हो सकता ॥४॥

संदे पितामहे जे थावर वत्थूण कोवि संदिट्ठँ ।
जं आभरणं वत्थं जहेत्थु तं विभायरिहा ॥५॥

अर्थ—पितामह (दादा या बाबा) की ज़िन्दगी में स्थावर धन को कोई नहीं ले सकता। परन्तु सब लोग अपने अपने आभरण वस्त्र उसमें से यथायोग्य पावेंगे ॥५॥

पुत्ताभावेवि पिदा उवाजियं ज धणं त्वविक्केदुं।
सक्का णावि यदुपदवा थावर धणं तहा णेयं ॥६॥

अर्थ—पिता ने पुत्र के जन्म से प्रथम भी जो स्थावर द्रव्य स्वयं उपार्जन किया हो उसको भी वह बेच नहीं सकता है ॥६॥

जादा वा वि अजादा बाला अणागिणो वा पिसुणा वा।
इत्थं कुडुंबवग्गा जत्तायां धम्म किचम्मि तजणे ॥७॥
एयो विवकियं वा कुज्जादाणं हि थावर सुवत्थु।
मादा पिदा हु भावय जेट्ठं भाय गदुगं पुणो अण्णो ॥८॥
सव्वे सम सग्गा हुय तणुहं कलहो नसं होइ।
मादा सुदव्वछयावा विग्गा भागं सु भाय णामितं ॥९॥
गिणहादि लवडोविहु बुत्थो रुग्गोरू गयछहो कामी।
दूदो वेस्सासत्तो गिण्हइ भायं जहोचियं तथ्थ ॥ १० ॥

अर्थ—जात तथा अजात पुत्रों, नाबालिग़ और अयोग्य व्यक्तियों के होते हुए कोई भी यात्रा, धर्म-कृत्य, मित्र जन के वास्ते स्थावर धन को विक्रय अथवा दे नहीं सकता है। माता, पिता, ज्येष्ठ भ्राता और अन्य कुटुम्बियों अर्थात् दायादों की सम्मति से विक्रय कर सकते हैं। इस तरह से झगड़े नहीं होंगे। यदि माता स्वेच्छा से विभाग करे तो सब उचित भाग पाते हैं। यदि कोई व्यक्ति दुष्ट है या असाध्य रोग का रोगी है अथवा कोई वाञ्छा रहित, कामी, द्यूत (जुवारी), वेश्यासक्त है तो वह अपनी ज़रूरत भर के लिए भाग पावेगा ॥ ७—१० ॥

अन्नय सव्व समंसा सवंसिया अंगणाहु संकुज्जा ।
जणये णणो विभाऊ अहम्मदे कज्जये कयाकुत्थ ॥ ११ ॥
जइचेदु करिज्ज तहा अपभाणं होइसव्वत्थ ।
सत्त विमणा सेवी विसयी कुट्ठो हु वादि उ विमुहो ॥ १२ ॥
गुरु मत्थय विमुहो विय अहियारी णव रारि सो होइ ।
जिट्ठो गिण्हेइ धणं जं बिहुणिय जणय तज्जणाय जण्णं ॥ १३ ॥
रक्खेइ तं कुडंबो जह पितरो तह समग्गाई ।
उठाहु जादुहिदरा णिय णिय मायं स धणस्स मायरिहा ॥१४॥
तह भावेतस्स सुया तह भावे णिय सु उ वावि ।
अविभत्त विभत्त धण मुक्खे साहोइ भामिणी तत्थ ॥ १५ ॥

अर्थ—सब शेष पुत्र समान भाग लें और धर्मभार्या भी पुत्रों के समान भाग लें; इस प्रकार (भाग) उचित है। (इसके विपरीत) अन्याय या किसी पृथक् अभिप्राय से भी विभाग नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा विभाग किया गया है, तो वह सब जगह अनुचित ठहरेगा। जो पुत्र सप्त कुव्यसनासक्त, विषयी, कुष्ठी, अप्रिय, गुरु विमुख हो वह विभाग का अधिकारी न होगा। ज्येष्ठ पुत्र पिता व पितामह का विर्सा पाता है। जिस प्रकार से माता-पिता कुटुम्ब की रक्षा करते हैं, वैसे ही ज्येष्ठ पुत्र को करनी चाहिए; और सब परिवार भी उसको वैसा ही माने। यदि कोई विवाहिता पुत्री हो तो वह अपनी माता के धन की अधिकारिणी होगी। यदि उसका (पुत्री का) अभाव हो तो उसका पुत्र, उसका भी अभाव हो तो स्वयं अपना पुत्र अधिकारी होगा। जो धन बँटा हो या न बँटा हो उस धन की मुख्य अधिकारिणी धर्मभार्या होती है ॥ ११—१५ ॥

भत्तरि णट्ठे विमदे वायाइ सुरुग्ग गहले वा ।
खेतं वत्थु धणं वा धणु दुपय चदुपयं चावि ॥ १६ ॥

जेट्ठा भायरिहा सा सा या कुटुंब सुपालंई।
पुत्रो कुडुंबजो वा मज्जोला: दुसुसंकिउ बण्णो ॥ १७ ॥
तहवि अभावे दोहिद तस्स अहावे हि गोत्तीय।
तस्स अहावे देउर सतवारिस प्प माणय' णेय' ॥ १८ ॥

अर्थ—जब कोई मनुष्य लापता हो जाय या मर जाय या वातादि रोग से ग्रस्त (बावला) हो जाय तब क्षेत्र, मकान, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद की मालिक उसकी ज्येष्ठ भार्या, जो कुटुम्ब का पालन करेगी, होगी। उसके अभाव में पुत्र, फिर सवर्ण माता-पिता से उत्पन्न भतीजा, इनके भी अभाव में दोहिता, उसके अभाव में गोत्री, (यह भी नहीं तो) भर्ता का छोटा भाई सात वर्ष की वय का ॥ १६—१८ ॥

नोट—भर्ता के सात वर्ष की उम्र के छोटे भाई का भाव ऐसे बच्चे से है जो पति के छोटे भाई के सदृश है और जिसको मृतक पुत्र की वधू दत्तक बनावे ॥

वूढं वा अव्वूढे गिण्हिया पंचजण सक्खा।
जो एगुद्धरेहिय कमदो भूभीदु पुव्वणट्ठाई ॥ १६ ॥
तुरियं भायं दिण्णाय लहदिय अणूणोहु सव्वस्स।
णिय जणय धणं जं विहु णियबदव्व मघादए इतं इव्वं ॥ २० ॥
दायादेउ ण दिज्जई विज्जालद्धं धणं जंहि।
जइ दिण्ण धण' जं बिहु भूसणवत्थादियं व जं अण्णं ॥२१॥

अर्थ—विवाहित हो अथवा अविवाहित कैसा ही हो उसको पञ्चजनों की साक्षी से (गोद) लेना चाहिए। जो व्यक्ति पूर्व गई हुई ज़मीन को फिर अपने पराक्रम से प्राप्त करे तो उसको उसका चतुर्थांश मिलेगा। शेष और दायाद पावेंगे। पिता के द्रव्य को निज द्रव्य समझके, और बिदून उसको बाधा पहुँचाये या कम

किये, जो रक्षा कर बचा ले ऐसी संपत्ति को अन्य दायादों को न दे; और जो विद्या से धन उपार्जन करे तथा जो निज को मिला हो अथवा आभूषण-वस्त्रादि और इसी प्रकार की और वस्तुओं को भी न दे ॥ १९—२१ ॥

गिण्हेदि ण दायादा पडति णरये ण हा चावि ।
णियकारिय कूवाइय भूषण वत्थुय धणोवि ॥ २२ ॥
णिय एवहि होई यहू अण्णेये तस्स दायदा णोवि ।
पोयाहु पितदव्वं णिय यं चउवज्जियं तहा णेयं ॥ २३ ॥

अर्थ—उपर्युक्त धन को और कोई दायाद नहीं ले सकता, जो लेगा वह नरक में पड़ेगा। और जो किसी ने स्वयं कूप, भूषण, वस्त्र बनाया हो और गोधन तथा इसी तरह की अन्य सम्पत्ति जो किसी ने प्राप्त की हो वह स्वयं उसी की होती है। उसमें कोई भागी नहीं होते हैं। इसी तरह से समझ लेना चाहिए कि पोते ने पिता का जो द्रव्य फिर प्राप्त किया हो उसका अथवा अपनी स्वयं पैदा की हुई जायदाद का वही मालिक होता है ॥ २२—२३ ॥

णिय पिउमहे जे दव्वे भाउजण णीछिया सुहवे ।
धण्णं जं अविहत्तं तहेव तं समंममं णेयं ॥२४॥

अर्थ—पितामह के द्रव्य का विभाग माता और भाईयों की आज्ञा के अनुकूल होता है। जो धन बँटा नहीं है वह इसी तौर से समानांश बाँटने योग्य है ॥ २४ ॥

धाइणिवं ट्ठावर सामित दुण्ह लत्थ सरसम्मि ।
जाद सुद विमाउ णेउहि सवणजणिय बहु सरिसो ॥ २५ ॥

अर्थ—पृथ्वी (और पितामह के और स्थावर धन) में पिता व पुत्र का अधिकार समान है; और यदि भाग ले चुकने के पश्चात् सवर्णा

भार्या का पुत्र उत्पन्न हो तो वह भी पुनः सम्पूर्ण भ्राताओं के समान भाग लेने का अधिकारी होगा ॥ २५ ॥

पुव्वं पच्छाजादे विभक्त जो सव्व संगाही।
जीवदु पिच्चधणोवि हु जाम्हि जहातहादिण्णं ॥ २६ ॥
णह विसादो तत्थहु गिण्ह जहुणावरेण एतत्थ।
पंचत्तगये जणये माया समभाइणी हवेतत्थ ॥ २७ ॥

अर्थ—पुत्र, उत्पन्न होने पर, उस जायदाद में जो उसके पैदा होने से पहले बँट गई है हक़दार हो जाता है। अपने जीते जी पिता ने चाहे जिस तरह पर अपना धन चाहे जिस किसी को दे दिया हो, उसमें उज्र करना अनुचित है, और वह किसी को नहीं लेना चाहिए। पिता के पाचवें आश्रम को चले जाने पर, अर्थात् मर जाने पर, माता भी जायदाद में बराबर की हक़दार हो जाती है ॥ २६–२७ ।

भाया भयणी दोविय संभज्जा दायभाग हो सरिसा।
भायरि सु पहाडंविय लहु भायर भायणी हु संरक्खा ॥ २८ ॥

अर्थ—भाई-बहिन दोनों जायदाद को समान बाँट लें। बड़े भाई को उचित है कि छोटे भाई और बहिन की रक्षा करे ॥२८॥

दत्ता दाण विसेसं भइणीउ पारिण लब्बा।
दो पुत्ता एय सुदा धणं विभज्जंति हा तहाभाये ॥ २९ ॥
सेसं जेट्टो लादिहु जहा रिणं णो तहा गिण्हे।
सुद्दाहु वंभजा जे चउ तिय दुगुणप्पभाइणो णया ॥ ३० ॥

अर्थ—दहेज देकर बहिन का विवाह कर देना चाहिए। अगर दो लड़के और एक लड़की हो तो सम्पत्ति के तीन भाग करने चाहिएँ। उससे जो बचे उसको बड़ा भाई ले, जिससे ऋण न लेना पड़े। यह जान लेना चाहिए कि ब्राह्मण पिता के पुत्र, शूद्राणी माता की

सन्तान के अतिरिक्त जो ब्राह्मणी, क्षत्राणी, वैश्याणी माताओं से उत्पन्न हुए हों वह क्रमशः ४, ३, २ भाग के अधिकारी होते हैं ॥ २९—३० ॥

खत्तिय सुद्दा णया तिय दुगुणाप्प भाइणो णेया ।
सुद्दजु सुद्दा दुगुदुग भायरिहा वैस्स सुद्दजा इक्कं ॥ ३१ ॥

अर्थ—क्षत्रिय (पिता) के पुत्र ३; वैश्य (पिता) के २; और शूद्र के एक भाग के अधिकारी, माता के वर्ण की अपेक्षा* से, होंगे ॥३१॥

तिय वण्णज जादोविहु सुद्दो वित्तं ण लहइ सव्वत्थ ।
उरस णिये पयणीउ दत्ता भाइज्ज दोहिया पुत्तो ॥ ३२ ॥
गोदज वा खेत्तुब्भव पुत्तारा देहु दायादा ।
कण्णीणापच्छण्णा पच्छण्णा वाणा पुणब्भवोधुत्तो ॥ ३३ ॥

अर्थ—चाहे तीनों वर्णों के पिता से ही क्यों न उत्पन्न हों तो भी शूद्राणी माता के पुत्र पिता की सम्पत्ति को सर्वथा ही नहीं पाते हैं। औरस (जो धर्मपत्नी से उत्पन्न हुआ है), गोद लिया हुआ पुत्र, भतीजा, दोहिता, गोत्रज, क्षेत्रज (जो उसी कुल में पैदा हुआ हो), यह लड़के निःसंदेह दायाद हैं। कुँवारी का पुत्र, निज पत्नी का पुत्र (जो छिपी रीति से पैदा हुआ हो, या जो खुले छिनाले उत्पन्न हुआ हो), कृत्रिम, जो लेकर पाला गया हो, ऐसी औरत का पुत्र जिसका

* इस बात को ध्यान में रखते हुए कि क्षत्रिय तीन वर्णों में विवाह कर सकता है अथवा अपने वर्ण में और अन्य नीचे के वर्णों में, वैश्य दो वर्णों में और शूद्र एक ही वर्ण में अर्थात् अपने ही वर्ण में। यह विदित होता है कि इस श्लोक का और इससे पहिले के श्लोकों का शायद यही अर्थ हो कि क्षत्रिय पिता की भिन्न-भिन्न वर्णों की स्त्रियों की औलाद (शूद्राणी के लड़कों को छोड़कर) क्रमशः ३ और २ भाग पावेगी, और वैश्य के पुत्र समान (२ और २) भाग पावेंगे (शूद्राणी का पुत्र कुछ नहीं पायेगा); और शूद्र के लड़के एक-एक भाग अपने पिता के हिस्से में पावेंगे।

दूसरा विवाह हुआ है, और छोड़ दिया हुआ बच्चा जो पुत्र की भाँति रखा गया हो ॥ ३२—३३ ॥

ते पुत्ता पुत्तकप्पा दायादा पिण्डदाणेवं ।
सुद्दा उ दासीं विहु जादो णिय जणय इच्छिया भागी ॥ ३४ ॥

अर्थ—यह पुत्र तुल्य हैं। परन्तु यह दायाद या पिण्डदाता नहीं हैं। शूद्रा दासी से जो पुत्र उत्पन्न हो उसका पिता के धन में पिता के इच्छानुसार ही भाग होता है ॥ ३४ ॥

पित्तु गये परलोये अद्धं अद्धं सहणहुते सव्वं ।
दायादा के के विहु पठमं भज्जा तदो दुपुत्तोहि ॥ ३५ ॥

अर्थ—यदि पिता मर जाय तो वह (दासीपुत्र) आधा भाग लेगा। और दायाद कौन हो सकते हैं? प्रथम धर्मपत्नी, फिर पुत्र ॥ ३५ ॥

पच्छादु भायराये पच्छातह तस्सुदाणया ।
पच्छा तहा स पिंडा तहा सुपुत्ती तहा सुतज्जोय ॥ ३६ ॥

अर्थ—फिर भाई, फिर भतीजे, फिर सपिण्ड, तत्पश्चात् पुत्री और उसके बाद पुत्री का पुत्र ॥ ३६ ॥

अणूणा इकोविबंधुवि सुग्गोयेजा जाइ जो हु दव्वेण ।
तस्सवि ..य पमाणं रायपमाणं हेवइ जं पत्त ॥ ३७ ॥

अर्थ—इनके पश्चात् कोई बन्धु, फिर कोई गोत्रीय, फिर कोई जातीय, मृतक के धन का स्वामी, लोक अथवा राज्य-नियमानुकूल से हो सकता है ॥ ३७ ॥

दत्त तम्मिण कलहो सुसिच्छदो धम्मसूरिहिं णिच्चं ।
दिण्णम परायपत्त ससरिकयं णो हवेइ कलहोय ॥ ३८ ॥

अर्थ—उक्त प्रकार दाय अधिकार में कलह न होगा; ऐसा धर्माचार्यों ने सदा के लिए निश्चय किया है। राज्यनीति व लोकव्यवहार के अनुसार दाय के निर्णय करने में विवाद न होगा ॥ ३८ ॥

सव्वं सव्वस मदं जहा तहा दाय भायम्मि ।
सव्वेसिं हि अहावे पुहूणिवो वित्त वंभ विणा ॥ ३९ ॥

अर्थ—बाँट इस प्रकार से करनी चाहिए जो सबको स्वीकृत हो और जो सबके फ़ायदे के लिए हो। इन (उपर्युक्त) दायादों के अभाव में धन का स्वामी राजा होगा, परन्तु ब्राह्मण के धन का नहीं ॥३९॥

बंभस्स जं धणं विहु तस्सहु भज्जाहि विभणा अण्णे ।
जिट्ठे गयेहु भायरि तहिय कणिट्ठे विभत्त स दव्वे ॥ ४० ॥

अर्थ—यह निश्चय है कि ब्राह्मण के धन की अधिकारिणी उसकी स्त्री होगी और उसके अभाव में कोई ब्राह्मण ही स्वामी होगा। और ज्येष्ठ भाई की मृत्यु पर उसके छोटे भाई उसका धन बाँटलें ॥ ४० ॥

सोयरबंधु वग्गो गेण्हदु तेसिं धणं कमसो ।
पडिदो पंगू वहिरो उम्मत्तो संद कुज्ज अंधाय ॥ ४१ ॥
विसई जडोय कोही गूँगो रुग्गोय पयट्टलो ।
विसणी अभक्खभोई एदेसिं भाग जुग्गदो णत्थि ॥ ४२ ॥
भुत्ति बसण जणिता परंदु जस्सा विकस्सावि ।
मंतो सहाइ शुद्धा एदेसिं भाग जोगदा अत्थि ॥ ४ ३ ॥

अर्थ—यदि उसके कोई भाई-बन्धुजन (वारिस) नहीं हैं तो उसके दायाद उपर्युक्त क्रमानुसार होंगे। पतित, पंगु, बधिर, उन्मत्त, नपुंसक, कुबड़ा, अन्धा, विषयी, पागल, क्रोधी, गूँगा, रोगी, बैरी, सप्त-कुव्यसनी, अभक्ष्यभोजी, ऐसा व्यक्ति भाग नहीं पाता। भोजन-वस्त्र से उनका भरण-पोषण करना चाहिए। और यदि वे मन्त्रादि से अच्छे हो जायँ तो उनमें दाय-अधिकार की योग्यता होती है ॥ ४१—४३ ॥

एदसिं बि सुदा अवि दुहिरा जो सव्व गुण सुद्धोय ।
होइहु भाय सु जुग्गा णियधम्मरदा जणाहु सव्वेसिं ॥ ४४ ॥

अर्थ—यदि यह (अयोग्य व्यक्ति) अच्छे न हो सकें तो उनके दोहिते को जो सर्वगुणशुद्ध हों (क़रीबी दायादों के अभाव में) उनका हिस्सा मिलेगा। यह समझ लेना चाहिए कि इन सबको धर्म में संलग्न रहना चाहिए ॥ ४४ ॥

जहकालं जहखेतं जहाविहिं तम्मि समभाऊ ।
बिवरीया णिव्वस्सा पडिउलाये तहेव वोढव्वा ॥ ४५ ॥

अर्थ—धन का भाग यथाकाल, यथाक्षेत्र, नियमानुकूल समभाग में कर देना चाहिए। जो सर्वथा सद्व्यवहार के प्रतिकूल चले वह भाग का अधिकारी न होगा, (और) जो माता-पिता के विरोधी हैं वह भी दाय के हक़दार न होंगे ॥ ४५ ॥

पुव्ववहू तहा सुद कमसो भायस्स भाइणो होई ।
इत्थिय धणं खु दिण्णं पाणिगहणस्स कालये सव्वं ॥ ४६ ॥

अर्थ—पूर्व स्त्री, फिर पुत्र, यह क्रमशः दाय के भागी होंगे। जो विवाह के समय मिले वह सब स्त्रीधन है ॥ ४६ ॥

माया पिया भयिण्णा पिउसुसायेहिं संदिण्णं ।
भूसण वत्थ हयादिय सव्वं खलु जाण इत्थिधणं ॥ ४७ ॥

अर्थ—माता, पिता, भ्राता, बुआ (पिता की भगिनी) आदि ने जो आभूषण, वस्त्र घोड़े आदि दिये हों सो सब (स्त्रीधन) है ॥ ४७ ॥

तम्हि धणम्हिय भाउ णहि एयस्सावि दायस्स ।
सप्पयाइ णिप्पयाइंहिं हवे विसेसोय मादुये समयं ॥ ४८ ॥

अर्थ—उस (स्त्रीधन) में किसी दायाद का कुछ अधिकार नहीं। स्त्री सप्रजा (पुत्रवती) अप्रजा (अपुत्रवती) दो भेद-वाली होती है ॥ ४८ ॥

तज्जासुय भइणिसुया ण कोवि तस्सा णिवारउ होई।
जो सुद भाइ भतिज्जउ सक्खीकिय जं परस्सु धणदिण्णं ॥ ४९ ॥
तस्सहि कोउ णिसिद्धा ण होइ किमु वा विसेसेण।
साक्खी विणाय दिण्णं ण धणं तस्सावि होइ णिवियदो ॥ ५० ॥
जादे दिग्धविवादे तस्सेव धणं धुवं होई।
एवं दायविभायं जहागमं मुणिवरेहिं णिदिट्ठं ॥ ५१ ॥

अर्थ—(स्त्रीधन का सप्रजा माता की मृत्यु पर) उसका पुत्र अथवा भानजा (मालिक होगा)। उनको कोई रोक नहीं सकता। अपुत्रा (अप्रजा) के मालिक भतीजे (भाई के पुत्र) होंगे। गवाहों की साक्षी में जो धन किसी को दिया जाये उसमें कोई उज्र नहीं कर सकता है। इससे अधिक क्या हो सकता है। जो धन साक्षी बिना किसी को दिया जावे वह उसका कभी नहीं होता है। विभाग के पश्चात् यदि झगड़ा हो तो वह जायदाद देनेवाले ही की ठहरेगी। इस प्रकार से दाय व विभाग शास्त्रानुसार मुनियों ने वर्णन किया है ॥ ४९–५१ ॥

तं खु ववहारादो इयलोयभवंहि णादव्वं।
धम्मो दुविहो सावय आयारो धम्म पुव्वेव पढमं ॥ ५२ ॥

अर्थ—यह दायभाग के नियम इस लोक के व्यवहारार्थ जानना चाहिए। धर्म दो प्रकार का है—एक श्रावक धर्म जो कि प्रथम है और गृहस्थधर्मपूर्वक होता है ॥ ५२ ॥

दुदिउ वउ पजुत्तो मूलं पाक्खिगमउ सौचो।
भरहे कोसलदेसे साकेये रिसहदेव जिणाहो ॥ ५३ ॥
जादो तेणेउ कम्मवि भूमे रयणा समुदिट्ठा।
तस्स सुदेण य चक्क पवट्टिणा भरहराय संगेण ॥ ५४ ॥

आयार-दाण दंडा दायविभाया समुदिट्ठा।

वसुणंदि इंदणं दिहि रचिया सा संहिदा पमाणाहु ॥ ५५ ॥

अर्थ—दूसरा धर्म उनके लिए है जो व्रतों को पालते हैं। पवित्रता की वृद्धि ही जिनका आश्रय है। भरतक्षेत्र के कोशल देश में और अयोध्या नगरी में श्रीऋषभदेव उत्पन्न हुए। उन्होंने कर्म-भूमि की रचना का उपदेश दिया था। उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती ने आचार, दान, दण्ड, दाय और विभाग के नियम बनाये थे। वही वसुनन्दि इन्द्रनन्दि ने संहिता में कहा है सो प्रमाण है ॥ ५३–५५ ॥

अर्हन्नीति

लक्ष्मणातनयं नत्वा द्युसदिन्द्रादिसेवितम् ।

गंयामेयगुणाविष्टं दायभागः प्ररूप्यते ॥ १ ॥

अर्थ—(माता) लक्ष्मणा रानी के पुत्र (श्रीचन्द्रप्रभु स्वामी) को नमस्कार करके जिनको सम्पूर्ण प्रकार के इन्द्रादि देव प्रणाम करते हैं और जो सर्वगुणालंकृत हैं दायभाग का अध्याय रचा गया है ॥ १ ॥

स्वस्वत्वापादनं दायः स तु द्वैविध्यमश्नुते ।

आद्यः सप्रतिबन्धश्च द्वितीयोऽप्रतिबन्धकः ॥ २ ॥

अर्थ—जिसके द्वारा सम्पत्ति में अधिकार का निर्णय हो वह दाय है। यह दो प्रकार का है। एक सप्रतिबन्ध, दूसरा अप्रतिबन्ध ॥ २ ॥

दायो भवति द्रव्याणां तद्द्रव्यं द्विविधं स्मृतम् ।

स्थावरं जङ्गमं चैव स्थितिमत स्थावरं मतम् ॥ ३ ॥

गृहभूम्यादिवस्तूनि स्थावराणि भवन्ति च ।

जङ्गमं स्वर्णरौप्यादि यत्प्रयोगेन गच्छति ॥ ४ ॥

अर्थ—दाय का सम्बन्ध द्रव्य से होता है। द्रव्य दो प्रकार का है। एक स्थावर दूसरा जङ्गम। जो पदार्थ स्थिर हों—जैसे भूमि, फुलवाड़ी इत्यादि—वह सब स्थावर है। स्वर्ण-चाँदी इत्यादि जो पृथक् हो सके सो जङ्गम है ॥ ३–४ ॥

न विभज्यं न विक्रेयं स्थावरं च कदापि हि ।

प्रतिष्ठाजनकं लोके आपदाकालमन्तरा ॥ ५ ॥

अर्थ—स्थावर धन को जिसके कारण इस लोक में प्रतिष्ठा होती है किसी सूरत में भी आपत्ति-काल के अतिरिक्त बांटना अथवा बेचना नहीं चाहिए ॥ ५ ॥

सर्वेषां द्रव्यजातानां पिता स्वामी निगद्यते ।
स्थावरस्य तु सर्वस्य न पिता न पितामहः ॥ ६ ॥

अर्थ—सर्व प्रकार के द्रव्य का पिता स्वामी कहा जाता है। परन्तु स्थावर द्रव्य के स्वामी न पिता होता है न पितामह ही ॥ ६ ॥

जीवत्पितामहे ताते दातुं नो स्थावरे क्षमः ।
तथा पुत्रस्य सद्भावे पितामहमृतावपि ॥ ७ ॥

अर्थ—बाबा की ज़िन्दगी में पिता को स्थावर वस्तु को दे देने का अधिकार नहीं है। इसी प्रकार पुत्र की उपस्थिति में पितामह के न होते हुए भी स्थावर वस्तु को पिता दूसरे को नहीं दे सकता ॥ ७ ॥

पिता स्वोपार्जितं द्रव्यं स्थावरं जङ्गमं तथा ।
दातुं शक्तो न विक्रेतुं गर्भस्थेऽपि स्तनंधये ॥ ८ ॥

अर्थ—पुत्र यदि गर्भ में हो अथवा गोद में हो तो पिता अपना स्वयं उपार्जन किया हुआ स्थावर-जङ्गम दोनों प्रकार का धन किसी को दे या बेच नहीं सकता है ॥ ८ ॥

अज्ञाता अथवा हीनाः पितुः पुत्राः सदा भुवि ।
सर्वेस्वाजीविकार्थं हि तस्मिन्नंशहराः स्मृताः ॥ ९ ॥

अर्थ—पुत्र अज्ञानी, मूर्ख, अङ्गहीन, आचारभ्रष्ट भी हो तो भी अपनी रक्षा व गुज़ारे के लिए पिता के द्रव्य में भाग का अधिकारी है ॥ ९ ॥

बाला जातास्तथाऽजाता अज्ञानाश्च शवा अपि ।
सर्वेस्वाजीविकार्थं हि तस्मिन्नंशहरा स्मृताः ॥ १० ॥

अर्थ—जो बालक उत्पन्न नहीं हुआ है तथा उत्पन्न हो गया है और जो बुद्धिरहित है अथवा जो उत्पन्न होकर मर गया है (भावार्थ मृतक पुत्र की सन्तान), ये सब अपनी-अपनी जीविका के लिए उस धन के उत्तराधिकारी हैं ॥ १० ॥

अप्राप्तव्यवहारेषु तेषु माता पिता तथा ।
कार्ये त्वावश्यके कुर्यात्तस्य दानं च विक्रयम् ॥ ११ ॥

अर्थ—पुत्र रोज़गार न जानते हों (भावार्थ नाबालिग़ हों) तो उनके माता-पिता किसी आवश्यकता के समय अपनी स्थावर वस्तु को बेच सकते हैं और पृथक् कर सकते हैं ॥ ११ ॥

दुःखागारे हि संसारे पुत्रो विश्रामदायकः ।
यस्मादृते मनुष्याणां गार्हस्थ्यं च निरर्थकम् ॥ १२ ॥

अर्थ—दुःख के स्थान-रूपी इस संसार में पुत्र विश्राम को देनेवाला है । बिना पुत्र का घर निरर्थक है ॥ १२ ॥

यस्य पुण्यं बलिष्ठं स्यात्तस्य पुत्रा अनेकशः ।
संभूयैकत्र तिष्ठंति पित्रोस्सेवासु तत्पराः ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस मनुष्य का पुण्य बलवान् है उसके बहुत पुत्र होते हैं, और सब आपस में शामिल रहकर सहर्ष माता-पिता की सेवा करते हैं ॥ १३ ॥

लोभादिकारणाज्जाते कलौ तेषां परस्परम् ।
न्यायानुसारिभिः कार्या दायभागविचारणा ॥ १४ ॥

अर्थ—यदि लोभ के कारण भाई-भाई में कलह उत्पन्न हो जाय तो द्रव्य की बाट न्यायानुकूल करनी चाहिए ॥ १४ ॥

पित्रोरूर्ध्वं तु पुत्राणां भागः सम उदाहृतः ।
तयोरन्यतमे नूनं भवेद्भागस्तदिच्छया ॥ १५ ॥

अर्थ—माता-पिता के मरने पश्चात् पुत्रों का समान भाग होता है। परन्तु माता-पिता में से कोई जीवित हो तो बटवारा उसके इच्छानुसार होता है ॥ १५ ॥

विभक्ता अविभक्ता वा सर्वे पुत्राः समांशतः ।
पित्रोॠणं प्रदत्त्वैव भवेयुर्भागभागिनः ॥ १६ ॥

अर्थ—पृथक् हों अथवा शामिल सब पुत्र पिता-माता के ऋण को बराबर-बराबर भाग में देकर हिस्से के हक़दार होते हैं ॥ १६ ॥

धर्मतश्चेत्पिता कुर्यात्पुत्रान् विषमभागिनः ।
प्रमाणवैपरीत्ये तु तत्कृतस्याप्रमाणता ॥ १७ ॥

अर्थ—धर्मभाव से पिता अपना द्रव्य पुत्रों को न्यूनाधिक भी दे दे तो अयोग्य नहीं, परन्तु विपरीत बुद्धि से दे तो वह नाजायज़ होगा ॥ १७ ॥

व्यग्रचित्तोऽतिवृद्धश्च व्यभिचाररतस्तु यः ।
द्यूतादिव्यसनासक्तो महारोगसमन्वितः ॥ १८ ॥
उन्मत्तश्च तथा क्रुद्धः पक्षपातयुतः पिता ।
नाधिकारी भवेद् भागकरणे धर्म्मवर्जितः ॥ १९ ॥

अर्थ—अत्यन्त व्यग्र चित्तवाला, अत्यन्त वृद्ध, व्यभिचारी, जुआरी, खोटे चाल-चलनवाला, पागल, महारोगी, क्रोध में भरा हुआ, पक्षपाती पिता का किया हुआ विभाग धर्मानुकूल न होने के कारण मान्य नहीं है ॥ १८—१९ ॥

असंस्कृता येऽनुजास्तान् संस्कृत्य भ्रातरः स्वयं ।
अवशिष्टं धनं सर्वे विभजेयुः परस्परम् ॥ २० ॥

अर्थ—पिता की सम्पत्ति में से बच्चों (पिता के लड़के-लड़कियों) के संस्कारों के करने के पश्चात् शेष को सब भाई बाँट लें ॥ २० ॥

नोट—यहाँ पर 'संस्कार' शब्द में शिक्षा, विवाह आदि शामिल हैं।

अनुजानां लघुत्वे तु सर्वथाप्यग्रजो धनम्।
सर्वं गृह्णाति तत्पैत्र्यं तदा तान्पालयेत्सदा ॥ २१ ॥

अर्थ—छोटे भाई बालक हों तो बड़ा भाई पिता की संपूर्ण संपत्ति को निज हाथ में रखकर उनका पालन-पोषण करे ॥ २१ ॥

विभक्तानविभक्तान्वै भ्रातॄन् ज्येष्ठः पितेव सः।
पालयेत्तेऽपि तज्ज्येष्ठं सेवन्ते पितरं यथा ॥ २२ ॥

अर्थ—जुदा हो गये हों अथवा शामिल रहते हों छोटे भाइयों को बड़े भाई को पिता के समान मानकर उसकी सेवा करनी चाहिए और बड़ा भाई उनको पुत्र के समान समझकर उनका पालन करे ॥ २२ ॥

पूर्वजेन तु पुत्रेण अपुत्रः पुत्रवान् भवेत्।
ततो न देयः सोऽन्यस्मै कुटुम्बाधिपतिर्यतः ॥ २३ ॥

अर्थ—प्रथम जन्मे हुए पुत्र से अपुत्र मनुष्य सपुत्र कहलाता है। इसलिए ज्येष्ठ पुत्र किसी को (दत्तक) देना उचित नहीं, क्योंकि वह कुटुम्ब का अधिपति होता है ॥ २३ ॥

ज्येष्ठ एव हि गृह्णीयात् पैत्र्यं धनमशेषतः।
शेषास्तदनुसारित्वं भजेयुः पितरं यथा ॥ २४ ॥

अर्थ—ज्येष्ठ पुत्र पिता का सब धन स्वाधीन करे और शेष भाई पिता समान समझकर उसके आज्ञानुकूल चलते रहें ॥ २४ ॥

एकानेका च चेत्कन्या पित्रोरूर्ध्वं स्थिता तदा।
स्वांशात्पुत्रस्तुरीयांशं दत्त्वाऽवश्यं विवाहयेत् ॥ २५ ॥

अर्थ—एक या अधिक भगिनी पिता के मरे पश्चात् कुँआरी हों तो उनको सब भाई अपने-अपने भाग का चतुर्थांश लगाकर ब्याह दें ॥ २५ ॥

विवाहिता च या कन्या तस्या भागो न कर्हिचित् ।
पित्रा प्रीत्या च यद्दत्तं तदेवास्या धनं भवेत् ॥ २६ ॥

अर्थ—जिस कन्या का ब्याह हो गया हो उसका पिता के द्रव्य में भाग नहीं होगा। पिता ने जो कुछ उसको दिया हो वही उसका धन है ॥ २६ ॥

यावतांशेन तनया विभक्ता जनकेन तु ।
तावतैव विभागेन युक्ताः कार्ये निजस्त्रियः ॥ २७ ॥

अर्थ—पिता को अपनी स्त्रियों को पुत्रों के समान भाग देना चाहिए ॥२७॥

पितुरूर्ध्वं निजाम्बायाः पुत्रैर्भागश्च सार्धकः ।
लौकिक व्यवहारार्थं तन्मृतौ ते समांशिनः ॥ २८ ॥

अर्थ—यदि पिता के मरने के पश्चात् बाट हो तो पुत्रों को चाहिए कि अपनी माता को आधा-आधा भाग लोक-व्यवहार के लिए दें और उसके मरने के पीछे उस धन को सम भागों में बाँट लें ॥ २८ ॥

पुत्रयुग्मे समुत्पन्ने यस्य प्रथमनिर्गमः ।
तस्यैव ज्येष्ठता ज्ञेया इत्युक्तं जिनशासने ॥ २९ ॥

अर्थ—दो पुत्र एक गर्भ से हों तो जो पुत्र प्रथम पैदा हो वही ज्येष्ठ पुत्र है। ऐसा जैन शासन का वचन है ॥ २९ ॥

दुहितापूर्वमुत्पन्ना सुतः पश्चाद्भवेद्यदि ।
पुत्रस्य ज्येष्ठता तत्र कन्यायाा न कदाचन ॥ ३० ॥

अर्थ—प्रथम कन्या जन्मे फिर पुत्र, तो भी पुत्र ही ज्येष्ठ्य का हक़दार होगा, कन्या ज्येष्ठ नहीं हो सकती ॥ ३० ॥

यस्यैकस्यां तु कन्यायां जातायां नान्यसंततिः ।
प्राप्तं तस्याश्चाधिपत्यं सुतायास्तु सुतस्य च ॥ ३१ ॥

अर्थ—जिस मनुष्य के केवल एक कन्या हो और कुछ सन्तान न हो तो उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके धन के मालिक पुत्री-दोहिते होंगे ॥ ३१ ॥

आत्मैव जायते पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।
तस्यामात्मनि तिष्ठंत्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ ३२ ॥
(देखो भद्रबाहुसंहिता २६) ॥ ३२ ॥

गृह्णाति जननी द्रव्यं मृता च यदि कन्यका ।
पितृद्रव्यमशेषं हि दौहित्रः सुतरां हरेत् ॥ ३३ ॥

अर्थ—ब्याही हुई कन्या माता का द्रव्य पाती है, इसलिए उसका पुत्र (अर्थात् दोहिता) उसके पिता का द्रव्य लेता है ॥३३॥

पौत्रदौहित्रयोर्मध्ये भेदोऽस्ति न हि कश्चन ।
तयोर्देहेन सम्बन्ध पित्रोर्देहस्य सर्वथा ॥ ३४ ॥

अर्थ—पौत्र और दोहिता (कन्या का पुत्र) में कुछ भेद नहीं है। इन दोनों के शरीरों में माता पिता के शरीर का सम्बन्ध है ॥३४॥

विवाहिता च या कन्या चेन्मृताऽपत्यवर्जिता ।
तदा तद्द्रव्यजातस्याधिपतिस्तत्पतिर्भवेत् ॥ ३५ ॥

अर्थ—ब्याही हुई कन्या जो सन्तान बिना मर जावे तो उसके धन का मालिक उसका पति है ॥ ३५ ॥

विभागोत्तरजातस्तु पुत्रः पित्रंशभाग् भवेत्
नापरेभ्यस्तु भ्रातृभ्यो विभक्तेभ्योंऽशमाप्नुयात् ॥ ३६ ॥

अर्थ—बाँट हो जाने के पश्चात् जो पुत्र उत्पन्न हो वह पिता का हिस्सा पाता है। और अपने जुदे भाइयों से हिस्सा नहीं पा सकता है ॥ ३६ ॥

पितुरूर्ध्वं विभक्तेषु पुत्रेषु यदि सोदरः ।
जायते तद्विभागः स्यादायव्ययविशोधितात् ॥ ३७ ॥

अर्थ—बाँट के पश्चात् पिता मर जावे और फिर एक और भाई जन्मे जो बाँट के वक्त पेट में था तो वह जायदाद में आमदनी व खर्च का हिसाब लगाकर भाग पाता है ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणस्य चतुर्वर्णाः स्त्रियः सन्ति तदा वसु ।

विभज्य दशधा तज्जान् चतुस्त्रिद्व्यंशभागिनः ॥ ३८ ॥

अर्थ—यदि किसी ब्राह्मण की चार स्त्री चार वर्ण की हों तो उसके धन के १० भाग करने चाहिएँ और उनमें से ब्राह्मणी के पुत्र को ४ क्षत्रिया के पुत्र को ३ वैश्याणी के पुत्र को २ भाग देने चाहिएँ ॥३८॥

कुर्यात्पिता वशिष्टं तु भागं धर्मे नियोजयेत् ।

शूद्राजातो न भागार्हो भोजनांशुकमंतरा ॥ ३९ ॥

अर्थ—शेष का एक भाग धर्म-कार्य में लगा देना चाहिए। शूद्रा स्त्री का पुत्र रोटी कपड़े के अतिरिक्त भाग नहीं पा सकता है ॥३९॥

क्षत्राज्जातः सवर्णायामर्धभागी विशात्मजात् ।

जातस्तुर्यांशभागी स्याच्छूद्रोत्पन्नोऽन्नवस्त्रभाक् ॥४०॥

अर्थ—क्षत्रिय पिता के क्षत्रिय स्त्री के पुत्र को पिता का आधा और वैश्य स्त्री के पुत्र को चौथाई धन मिलेगा। उसका शूद्रा स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र केवल भोजन और वस्त्र का ही अधिकारी होगा ॥४०॥

वैश्याज्जातः सवर्णायां पुत्रः सर्वपतिर्भवेत् ।

शूद्राजातो न दायादो योग्यो भोजनवाससाम् ॥४१॥

अर्थ—वैश्य पिता का सवर्णा स्त्री का पुत्र पिता का सर्वधन लेता है। उसका शूद्रा स्त्री का पुत्र वारिस नहीं है, अस्तु वह केवल भोजन वस्त्र का अधिकारी है ॥४१॥

वर्णत्रये यदा दासीवर्णशूद्रात्मजो भवेत् ।

जीवत्तातेन यत्तस्मै दत्तं तत्तस्य निश्चतम् ॥ ४२ ॥

मृते पितरि तत्पुत्रैः कार्यं तेषां हि पालनम् ।
निर्बंधश्च तथा कार्यस्तातं येन स्मरेद्धि सः ॥ ४३ ॥

अर्थ—तीन (उच्च) वर्णों के पुरुषों के पास बैठी हुई शूद्र वर्ण की स्त्री से जो पुत्र उत्पन्न हों उनको पिता अपने जीवन-काल में जो कुछ दे उसके वह निश्चय मालिक होंगे। पिता के मरे पीछे उक्त दासीपुत्रों के निर्वाह के लिए बन्दोबस्त कर देना चाहिए जिससे कि वह पिता को याद रक्खें ॥४२-४३॥

शूद्रस्य स्त्री भवेच्छूद्रा नान्या तज्जातसूनवः ।
यावन्तस्तेऽखिला नूनं भवेयुः समभागिनः ॥४४॥

अर्थ—शूद्र पुरुष की स्त्री शूद्रा होती है अन्य वर्ण की नहीं होती। उस स्त्री के पुत्र पिता के धन में बराबर भाग के अधिकारी होंगे ॥ ४४ ॥

दास्यां जातोऽपि शूद्रेण भागभाक् पितुरिच्छया ।
मृते तातेऽर्धभागी स्यादूढाजो भ्रातृभागतः ॥ ४५ ॥

अर्थ—शूद्र से दासी के पेट से जो पुत्र जन्मे उसको पिता के धन का पिता के इच्छानुसार भाग मिलता है। और पिता के मरने के बाद वह विवाहिता बीबी के पुत्र से आधा भाग पाने का अधिकारी होता है ॥४५॥

जीवनाशाविनिर्मुक्तः पुत्रयुक्तोऽथवा परः ।
सपत्नीकः स्वरक्षार्थमधिकारपदे नरम् ॥४६॥
दत्त्वा लेखं सनामाङ्कं राजाज्ञासाक्षिसंयुतम् ।
कुलीनं धनिनं मान्यं स्थापयेत् स्वमनोऽनुगम् ॥४७॥
प्राप्याधिकारं पुरुषः परासौ गृहनायके ।
स्वामिना स्थापितं द्रव्यं भक्षयेद्वा विनाशयेत् ॥४८॥

भवेच्चेत्प्रतिकूलश्च मृतवध्वा: कथंचन ।
तदा सा विधवा सद्य: कृतघ्नं तं मदाकुलम् ॥४९॥
भूपाज्ञापूर्वकं कृत्वा स्वाधिकारपदच्युतम् ।
नरैरन्यै: स्वविश्वस्तै: कुलरीतिं प्रचालयेत् ॥५०॥

अर्थ—ऐसा शख़्स जिसको रोग के बढ़ जाने से जीने की आशा न रही हो चाहे वह पुत्रवान् हो अथवा न हो, परन्तु स्त्री उसके हो, वह अपने धन की रक्षा के लिए ऐसे व्यक्ति को जो कुलीन और द्रव्यवान् हो एक लेख द्वारा जिस पर राजा की आज्ञा हो और गवाहों की साखी हो रक्षक नियत करे। स्वामी की मृत्यु पश्चात् यदि वह रक्षक उसके द्रव्य को खा जाय या नष्ट करे अथवा उसकी विधवा के प्रतिकूल हो जावे तो बेवा को चाहिए कि तत्काल राजा की आज्ञा लेकर ऐसे विश्वासघाती कृतघ्न पुरुष को अधिकार-रहित कर किसी अपने विश्वासपात्र दूसरे मनुष्य से कुलरीत्यनुसार काम लेवे ॥४६—५०॥

तद्द्रव्यमतियत्नेन रक्षणीयं तया सदा ।
कुटुम्बस्य च निर्वाहस्तन्निमर्पेण भवेद्यथा ॥५१॥
सत्यौरसे तथा दत्ते सुविनीतेऽथवासति ।
कार्ये सावश्यके प्राप्ते कुर्याद्दानं च विक्रयम् ॥५२॥

अर्थ—उस (विधवा) को द्रव्य की बड़े यत्नपूर्वक रक्षा करनी उचित है; जिससे उसकी (विधवाकि) चतुराई से कुटुम्ब का पालन हो। औरस पुत्र हो अथवा विनयवान् दत्तक पुत्र के होते हुए और पुत्र के अभाव में भी वह विधवा स्त्री आवश्यकता के समय पति के धन में से दान कर सकती है वा बेच सकती है ॥५१–५२॥

भ्रष्टे नष्टे च विक्षिप्ते पत्यौ प्रव्रजिते मृते ।
तस्य नि:शेषवित्तस्याधिपा स्याद्गुरवर्णिनी ॥५३॥

अर्थ—पति लापता हो जाय या मर जाय या बावला हो जाय या दीक्षा लेकर त्यागी हो जाय तो उसके सब धन की स्वामिनी उसकी स्त्री होगी ॥५३॥

कुटुम्बपालने शक्ता ज्येष्ठा या च कुलाङ्गना ।
पुत्रस्य सत्वेऽसत्वे च भ्रातृवत्साधिकारिणी ॥५४॥

अर्थ—कुटुम्ब का पालन करने में समर्थ बड़ी विधवा, पुत्र हो तब भी और न हो तब भी, पति के धन की उसके ही तुल्य अधिकारिणी होती है ॥५४॥

भ्रातृव्यं तदभावे तु स्वकुटुम्बात्मजं तथा ।
असंस्कृतं संस्कृतं च तदसत्वे सुतासुतम् ॥५५॥
बंधुजं तदभावे तु तस्मिन्नसति गोत्रजम् ।
तस्यासत्वे लघुं सप्तवर्षसंस्थं तु देवरम् ॥५६॥
विधवा स्वौरसाभावे गृहीत्वा दत्तरीतितः ।
अधिकारपदे भर्तुः स्थापयेत्पंचसाक्षितः ॥५७॥

अर्थ—औरस पुत्र के अभाव में विधवा को चाहिए कि वह पाँच साक्षियों के समक्ष दत्तक विधि के अनुसार दत्तक पुत्र गोद लेकर उसको अपने धन का स्वामी बनावे। प्रथम भर्त्ता के भाई का पुत्र, यदि वह न हो तो पति के कुटुम्ब का बालक चाहे उसके संस्कार हुए हों चाहे नहीं, यह भी न हो तो निज कन्या का पुत्र (दोहिता), फिर किसी बंधु का पुत्र, इसके बाद पति के गोत्र का कोई लड़का, उसके अभाव में सात वर्ष की उम्र का देवर दत्तक पुत्र बनाया जा सकता है ॥५५-५७॥

यद्यसौ दत्तकः पुत्रः प्रीत्या सेवासु तत्परः ।
विनयाद्भक्तिनिष्ठश्च भवेदौरसवत्तदा ॥५८॥

अर्थ—दत्तक पुत्र गोद लेनेवाले माता पिता की सेवा मे तत्पर हो और भक्तियुक्त विनयवान् हो तब औरस के समान समझा जाता है ॥५८॥

अप्रजा मनुजः स्त्री वा गृह्णीयाद्यदि दत्तकम् ।
तदा तन्मातृपित्रादेर्लेख्यं वध्वादिसाक्षियुक् ॥५९॥
राजमुद्रांकितं सम्यक् कारयित्वा कुटुम्बजान् ।
ततो ज्ञातिजनांश्चैवाहूय भक्तिसमन्वितम् ॥६०॥
सधवा गीततूर्यादिमंगलाचारपूर्वकम् ।
गत्वा जिनालयं कृत्वा जिनाग्रे स्वस्तिकं पुनः ॥६१॥
प्राभृतं च यथाशक्ति विधाय स्वगुरुं तथा ।
नत्वा दत्त्वा च सद्दानं व्याघुट्य निजमन्दिरम् ॥६२॥
आगत्य सर्वलोकेभ्यस्तांबूलश्रीफलादिकम् ।
दत्त्वा सत्कार्यस्वस्रादीन वस्त्रालंकरणादिभिः ॥६३॥
आहूतस्वीयगुरुणा कारयेऽज्जातकर्म सः ।
ततो जातोऽस्य पुत्रोऽयमिति लोकैर्निगद्यते ॥६४॥

अर्थ—निःसन्तान (अपुत्र) पुरुष वा स्त्री किसी बालक को दत्तक पुत्र बनावे तो उस बालक के माता पिता से एक लेख लिखवा ले और उस पर उसके कुटुम्बी जनों की गवाही करावे और राजा की मुहर करा ले। और भक्तिपूर्वक बन्धु जन तथा अन्य सम्बन्धियों को बुलावे। सुहागिनी स्त्रियाँ मङ्गलगान करें तथा अन्य प्रकार के मङ्गल कार्य हों, बाजा बजाते गाते जिनालय में जायँ और भगवान् के सम्मुख स्वस्तिक रचकर यथाशक्ति द्रव्य भेंट चढ़ा स्वगुरु की वन्दना कर सुपात्रों को दान दे। फिर घर आये एकत्रित हुए बन्धुजनों के सम्मानार्थ ताम्बूल और श्रीफल तथा निज भगिनियों को वस्त्राभूषण दे सत्कार करे। अपने गुरु को बुलाकर उससे विधि-

पूर्वक जातिकर्म करावे। फिर यह प्रसिद्ध होगा कि यह पुत्र इनका है ॥५९–६४॥

तदैवापणभूवास्तुग्रामप्रभृतिकर्मसु ।
अधिकारमवाप्नोति राजकार्येष्वयं पुनः ॥ ६५ ॥

अर्थ—इस पर (दत्तक पुत्र) दुकान, पृथ्वी, मकान, गाँव आदि के कामों में अधिकार प्राप्त करता है ॥६५॥

सवर्णस्त्र्यौरसोत्पत्तौ तुर्यांशार्हो भवत्यपि ।
भोजनांशुकदानार्हा असवर्णास्तनंधयाः ॥६६॥

अर्थ—दत्तक पुत्र किये पश्चात् सवर्णा स्त्री से औरस पुत्र उत्पन्न हो तो दत्तक को चौथाई भाग मिले, परन्तु अन्य वर्ण की स्त्री से पुत्र जन्मे तो वह केवल भोजन वस्त्र का ही अधिकारी होता है ॥६६॥

नोट—यहाँ लॉ का मन्शा केवल उस दशा से विदित होता है जब कि वैश्य पिता के वैश्य और शूद्रा दो वर्णों की स्त्रियाँ हैं। अब यदि वैश्याणी से पुत्र उत्पन्न हो तो दत्तक को $\frac{1}{4}$ भाग कुल धन का मिलेगा। शेष सब औरस पुत्र पावेगा। और जो शूद्रा से हो तो वह दत्तक सर्व सम्पत्ति पावेगा।

गृहीते दत्तके जाते औरसस्तर्हि बन्धनम् ।
उष्णीपस्य भवेत्तस्य नहि दत्तस्य सर्वथा ॥ ६७ ॥

अर्थ—यदि किसी ने दत्तक पुत्र ले लिया हो और फिर औरस पुत्र उत्पन्न हो तो पगड़ी बाँधने का अधिकारी औरस पुत्र ही होगा। दत्तक पुत्र को पगड़ी बाँधने का सर्वथा अधिकार नहीं है ॥ ६७ ॥

तूर्यमंशं प्रदाप्यैव दत्तः कार्यः पृथक् तदा ।
पूर्वमेवोष्णीषबन्धे यो जातः स समांशभाक् ॥ ६८ ॥

अर्थ—उस समय दत्तक पुत्र को चौथाई भाग देकर अलग कर देना चाहिए। यदि दत्तक पुत्र को पहिले पगड़ी बाँध दी गई हो

और उसके बाद औरस पुत्र उत्पन्न हो तो औरस पुत्र उसके समान अधिकार का भागी है ॥ ६८ ॥

औरसो दत्तकश्चैव मुख्यौ क्रीतः सहोदरः ।
दौहित्रश्चेति कथिताः पञ्चपुत्रा जिनागमे ॥ ६९ ॥

अर्थ—औरस और दत्तक यही दोनों मुख्य पुत्र होते हैं; मोल का लिया, सहोदर, दोहिता यह गौण हैं यही पाँच प्रकार के पुत्र हैं जो जिनागम में कहे हैं ॥ ६९ ॥

धर्मपत्न्यां समुत्पन्न औरसो दत्तकस्तु सः ।
यो दत्तो मातृपितृभ्यां प्रीत्या यदि कुटुम्बजः ॥ ७० ॥
क्रयक्रीतो भवेत्क्रीतो लघुभ्राता च सोदरः ।
सौतः सुतोद्भवश्चेमे पुत्रा दायहराः स्मृताः ॥ ७१ ॥

अर्थ—जो अपनी धर्मपत्नी से उत्पन्न हुआ हो वह औरस कहलाता है; और जो अपने कुटुम्ब में उत्पन्न हुआ हो और उसके माता पिता ने प्रेमपूर्वक दे दिया हो वह दत्तक पुत्र कहलाता है । जो मूल्य देकर लिया हो वह क्रीत है । छोटा भाई सहोदर है । पुत्री का पुत्र सौत (दौहित्र) है । ये पाँच प्रकार के पुत्र उत्तराधिकारी (धन के भागीदार) कहाते हैं ॥ ७०–७१ ॥

पौनर्भवश्च कानीनः प्रच्छन्नः क्षेत्रजस्तथा ।
कृत्रिमश्चोपविद्धश्च दत्तश्चैव सहोटजः ॥ ७२ ॥
अष्टावमी पुत्रकल्पा जैने दायहरा नहि ।
मतान्तरीयशास्त्रेषु कल्पिताः स्वार्थसिद्धये ॥ ७३ ॥

अर्थ—ऐसी स्त्री का पुत्र जिसका दूसरा विवाह हुआ हो, कन्या का पुत्र, छिनाले का पुत्र, नियोग से पैदा हुआ पुत्र (क्षेत्रज), जिसे लेकर पाला हो (कृत्रिम), त्यागा हुआ बालक, जो स्वयं आ गया हो, माता के साथ (विवाह के पहले के गर्भ के फल-स्वरूप)

आया हुआ पुत्र, इनमें से कोई भी जैन शास्त्रानुसार दाय के अधिकारी नहीं हैं। अन्य मत के शास्त्रों में इनको स्वार्थवश पुत्र माना है ॥ ७२—७३ ॥

पत्नी पुत्रश्च भ्रातृव्याः सपिण्डश्च दुहितृजः ।
बन्धुजो गोत्रजश्चैव स्वामी स्यादुत्तरोत्तरम् ॥ ७४ ॥
तदभावे च ज्ञातीयास्तदभावे महीभुजा ।
तद्धनं सफलं कार्यं धर्म्ममार्गे प्रदाय च ॥ ७५ ॥

अर्थ—स्त्री, पुत्र, भाई का पुत्र, सात पीढ़ी तक का वंशज, दोहिता, बन्धु का पुत्र, गोत्रज, और इनके अभाव में ज्ञात्याः यह क्रमशः एक दूसरे के अभाव में उत्तरोत्तर दायभागी होंगे। इन सबके अभाव में राजा मृतक के धन को किसी धर्मकार्य में लगाकर सफल बना दे ॥ ७४–७५ ॥

प्रतिकूला कुशीला च निर्वास्या विधवापि सा ।
ज्येष्ठदेवरतत्पुत्रैः कृत्वान्नादिनिबन्धनम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—यदि विधवा कुलाम्नाय के प्रतिकूल चलनेवाली और कुशीला है तो उसके पति के भाई भतीजों को चाहिए कि उसके गुज़ारे का प्रबन्ध करके उसको घर से निकाल दें ॥ ७६ ॥

सुशीलाप्रजसः पोष्या योषितः साधुवृत्तयः ।
प्रतिकूला च निर्वास्या दुःशीला व्यभिचारिणी ॥ ७७ ॥

अर्थ—जो स्त्रियाँ सुशील हों जिनका आचरण अच्छा हो और जिनके कोई सन्तान न हो ऐसी स्त्रियों का पालन पोषण करना चाहिए। और जो व्यभिचारिणी हैं, बुरे स्वभाव की हैं और प्रतिकूल हैं उन्हें निकाल देना चाहिए ॥ ७७ ॥

भूतावेशादिविक्षिप्तात्युग्रव्याधिसमन्विता ।
वातादिदूषिताङ्गी च मूकांधाऽस्पष्टभाषिणी ॥ ७८ ॥

मदान्धा स्मृतिहीना च धनं स्वीयं कुटुम्बकम् ।
त्रातुं नहि समर्था या सा पोष्या ज्येष्ठदेवरैः ॥ ७९ ॥
भ्रातृजैश्च सपिंडैश्च बन्धुभिर्गोत्रजैस्तथा ।
ज्ञातिजै रक्षणीयं तद्धनं चातिप्रयत्नतः ॥ ८० ॥

अर्थ—भूतादिक बाधा के कारण जो विधवा बावली हो, जो अत्यन्त रोगी हो, जो फालिज के रोग में मुब्तिला हो, जो गूँगी व अन्धी हो, जो साफ़ साफ़ बोल नहीं सकती हो, जो मान के मद से उन्मत्त हो, जो स्मरण शक्ति में असमर्थ हो और इस कारण अपने कुटुम्ब व धन की भी रक्षा न कर सके, ऐसी स्त्री के धन की रक्षा क्रमपूर्वक उसके पति के भाई, भतीजे, सात पीढ़ी तक के वंशियों को तथा चौदह पीढ़ी तक के वंशियों तथा और जातिवालों को यत्नपूर्वक करनी चाहिए ॥ ७८–८० ॥

यच्च दत्तं स्वकन्यायै यज्जामातृकुलागतम् ।
तद्धनं नहि गृह्णीयात् कोऽपि पितृकुलोद्भवः ॥ ८१ ॥
किन्तु त्राता न कोऽपि स्यात्तदा तातधनं तथा ।
रक्षेत्तस्या मृतौ तच्च धर्ममार्गे नियोजयेत् ॥ ८२ ॥

अर्थ—जो द्रव्य कन्या को (ख़ुद) दिया हो या जो उसको उसकी ससुराल से मिला हो उसको कन्या के मैकेवालों को नहीं लेना चाहिए। किन्तु यदि उसका कोई रक्षक न रहे तो उस समय उस पुत्री की तथा उसके धन की रक्षा करे और उसके मरने पर उस धन को धर्म-मार्ग में लगा देवे ॥ ८१–८२ ॥

आत्मजो दत्रिमादिश्च विद्याभ्यासैकतत्परः ।
मातृभक्तियुतः शान्तः सत्यवक्ता जितेन्द्रियः ॥ ८३ ॥
समर्थो व्यसनापेतः कुर्याद्रीतिं कुलागताम् ।
कर्तुं शक्तो विशेषं नो मातुराज्ञां विमुच्य वै ॥ ८४ ॥

अर्थ—औरस हों चाहे दत्तक पुत्र हों जो विद्याभ्यास में तत्पर हों माता की भक्ति करनेवाले हों, शान्तचित्त हों, सत्य बोलनेवाले जितेन्द्रिय हों, इनको चाहिए कि अपनी शक्त्यनुसार कुलाम्नाय के अनुकूल काम करें; परन्तु उनको कोई विशेष कार्य माता की आज्ञा का उल्लङ्घन करके करने का अधिकार नहीं है ॥ ८३—८४ ॥

पितुर्मातुर्द्वयोः सत्वे पुत्रैः कर्तुं न शक्यते ।
पित्रादिवस्तुजातानां सर्वथा दानविक्रये ॥ ८५ ॥

अर्थ—माता पिता दोनों के जीवते पुत्र पिता के धन को दान नहीं कर सकता है और न बेच सकता है ॥ ८५ ॥

पितृभ्यां प्रतिकूलः स्यात्पुत्रो दुष्कर्मयोगतः ।
जातिधर्माचारभ्रष्टोऽथवा व्यसनतत्परः ॥ ८६ ॥
स बोधितोऽपि सद्वाक्यैर्नत्यजेद्दुर्मतिं यदि ।
तदा तद्वृत्तमाख्याय ज्ञातिराज्याधिकारिणाम् ॥ ८७ ॥
तदीयाज्ञां गृहीत्वा च सर्वैः कार्य्यो गृहाद्बहिः ।
तस्याभियोगः कुत्रापि श्रोतुं योग्यो न कर्हिचित् ॥ ८८ ॥

अर्थ—पाप के उदय से यदि पुत्र माता पिता की आज्ञा न माने और कुल की मर्यादा के खिलाफ चले या दुराचारी हो और रास्ती से समझाने पर बुरी आदतों को नहीं छोड़ें तो राजा और कुटुम्ब के लोगों से फ़रयाद करके उनकी आज्ञा से उसको घर से निकाल देना चाहिए। फिर उसकी शिकायत कहीं नहीं सुनी जा सकेगी ॥८६—८८॥

पुत्रीकृत्य स्थापनीयोऽन्यो डिम्भः सुकुलोद्भवः ।
विधीयते सुखार्थं हि चतुर्वर्णेषु सन्ततिः ॥ ८९ ॥

अर्थ—उसके स्थान में किसी अच्छे कुल के बालक को स्थापित करना चाहिए, क्योंकि सब वर्णों में सन्तान सुख के लिए ही होती है ॥ ८९ ॥

पारिव्रज्या गृहीतैकेनाविभक्तेषु बन्धुषु ।

विभागकाले तद्भागं तत्पत्नी लातुमर्हति ॥ ९० ॥

अर्थ—यदि सब भाई मिलकर रहते हैं और उनका विभाग नहीं हुआ है और ऐसी दशा में यदि कोई भाई दीक्षा ले ले तो विभाग करते समय उसके भाग की अधिकारिणी उसकी स्त्री होगी ॥ ९० ॥

पुत्रस्त्रीवर्जितः कोऽपि मृतः प्रव्रजितोऽथवा ।

सर्वे तद्भ्रातरस्तस्य गृह्णीयुस्तद्धनं समम् ॥ ९१ ॥

अर्थ—जो पुरुष पुत्र या स्त्री को छोड़े बिना मर जाय अथवा साधू हो जाय तो उसका धन उसके शेष भाई व भाई के पुत्र सम भाग बाँट लें ॥ ९१ ॥

उन्मत्तो व्याधितः पंगुः षंढोऽन्धः पतितो जडः ।

स्रस्ताङ्गः पितृविद्वेषी मुमूर्षुर्बधिरस्तथा ॥ ९२ ॥

मूकश्च मातृविद्वेषी महाक्रोधी निरिन्द्रियः ।

दोषत्वेन न भागार्हाः पोषणीयाः स्वभ्रातृभिः ॥ ९३ ॥

अर्थ—पागल, (असाध्य रोग का) रोगी, लँगड़ा, नपुंसक, अन्धा, पतित, मूर्ख, कोढ़ी, अङ्गहीन, पिता का द्वेषी, मृत्यु के निकट, बहरा, मूक (गूँगा), माता से द्वेष करनेवाला, महाक्रोधी, इन्द्रियहीन, ऐसे व्यक्ति भाग नहीं पा सकते। केवल और भाई उनका पालन पोषण करेंगे ॥ ९२—९३ ॥

एषां तु पुत्राः पत्न्यश्चेच्छुद्धा भागमवाप्नुयुः ।

दोषस्यापगमे त्वेषां भागार्हत्वं प्रजायते ॥ ९४ ॥

अर्थ—यदि ऐसे दूषणोंवाले व्यक्ति के पुत्र तथा स्त्री दोष-रहित हों तो उसका भाग उनको मिलेगा और यदि वे स्वयं दोष-रहित हो गये हों तो भाग की योग्यता पैदा हो जाती है ॥ ९४ ॥

विवाहितोऽपि चेद्दत्त: पितृभ्यां प्रतिकूलभाक् ।
भूपाज्ञापूर्वकं सद्यो नि:सार्यो जनसाक्षित: ॥ ९५ ॥

अर्थ—विवाह किये पश्चात् भी दत्तक पुत्र माता पिता के प्रतिकूल चले तो उसको तत्काल राजा की आज्ञा लेकर गवाहों की साक्षी से निकाल देना चाहिए ॥ ९५ ॥

पैतामहं वस्तुजातं दातुं शक्तो न कोऽपि हि ।
अनापृच्छ्य निजां पत्नीं पुमान् भ्रातृगणं च वै ॥ ९६ ॥

अर्थ—अपनी स्त्री, पुत्र, भ्राता के पूछे बिना कोई पुरुष दादा की सम्पत्ति किसी को दे नहीं सकता ॥ ९६ ॥

पितामहार्जिते द्रव्ये निबन्धे च तथा भुवि ।
पितु: पुत्रस्य स्वामित्वं स्मृतं साधारणं यत: ॥ ९७ ॥

अर्थ—जो द्रव्य पितामह का (पिता के पिता का) कमाया हुआ है वह चाहे जङ्गम हो वा स्थावर हो उस पर पिता व पुत्र दोनों का समान अधिकार है ॥ ९७ ॥

जातेनैकेन पुत्रेण पुत्रवत्योऽखिला: स्त्रिय: ।
अन्यतरस्या अपुत्राया मृतौ स तद्धनं हरेत् ॥ ९८ ॥

अर्थ—एक स्त्री के पुत्र का जन्म होने से (एक पुरुष की) सम्पूर्ण स्त्रियाँ पुत्रवती समझी जाती हैं। अतएव उनमें से यदि कोई स्त्री मर जाय और उसके पुत्र न हो तो उसका द्रव्य वही पुत्र ले ॥ ९८ ॥

पैतामहे च पौत्राणां भागा: स्यु: पितृसंख्यया ।
पितुर्द्रव्यस्य तेषां तु संख्यया भागकल्पना ॥ ९९ ॥

अर्थ—पितामह (दादा) के द्रव्य में लड़कों की संख्या पर पोतों को हिस्सा मिलता है और अपने-अपने पिता के द्रव्य में से पोते जितने हों समान भाग पाते हैं ॥ ९९ ॥

पुत्रस्त्वेकस्य संजातः सोदरेषु च भूरिषु ।
तदा तेनैव पुत्रेण ते सर्वे पुत्रिणः स्मृताः ॥ १०० ॥

अर्थ—एक से अधिक भाइयों में से यदि एक भाई के भी पुत्र उत्पन्न हो तो उसके कारण सकल भाई पुत्रवान् होते हैं ॥ १०० ॥

अविभक्तं क्रमायातं श्वशुरस्वं नहि प्रभुः ।
कृत्ये निजे व्ययीकर्तुं सुतसम्मतिमंतरा ॥ १०१ ॥

अर्थ—परम्परा से चली आई ससुरे की सम्पत्ति को अपने पुत्र की सम्मति बिना मृतक लड़के की विधवा को अपने कार्य में खर्चने का अधिकार नहीं है ॥ १०१ ॥

विभक्ते तु व्ययं कुर्याद्धर्मादिषु यथारुचि ।
तत्रात्यपि मृतौ तस्य कर्तुं शक्ता न तद् व्ययम् ॥ १०२ ॥
निर्वाहमात्रं गृह्णीयात्तद्द्रव्यस्य चामिषतः ।
प्राप्तोऽधिकारं सर्वत्र द्रव्ये व्यवहृतौ सुतः ॥ १०३ ॥

अर्थ—स्वामी के भाग में आये पश्चात् स्त्री अपने इच्छानुसार धर्मादिक और अन्य कार्यों में व्यय कर सकती है। परन्तु यदि पति बाँट के पहिले ही मर गया हो तो वह केवल गुज़ारे मात्र के लिए उसकी जायदाद की आमदनी के लेने का हक़ रखती है। खर्च करने का नहीं; शेष सब द्रव्य का अधिकारी पुत्र ही है ॥ १०२-१०३ ॥

नोट—यह नियम वहाँ लागू होगा जहाँ बाबा जीवित है और मृतक लड़के का लड़का जीवित है। नियम यह है कि अगर मृतक पुत्र को बाबा ने हिस्सा देकर पृथक् कर दिया था तब विधवा उसकी वारिस होगी; नहीं तो जब उसका पति अपने जीते जो किसी वस्तु का मालिक नहीं था तो वह किसी वस्तु की अधिकारिणी न होगी। क्योंकि बाबा के होते हुए उसके पति का उसकी जायदाद में कोई हक़ नहीं था।

तथापीशो व्ययं कर्तुं न ह्यंबानुमतिं विना।
सुते परासौ तत्पत्नी भर्तुर्धनहरी स्मृता ॥ १०४ ॥
यदि सा शुभशीला स्त्री श्वश्रूनिर्देशकारिणी।
कुटुम्बपालने शक्ता स्वधर्मनिरता सदा ॥ १०५ ॥

अर्थ—तो भी पुत्र को माता की सम्मति विना ख़र्च करना उचित नहीं है। परन्तु उसके मरने पर उसकी स्त्री भर्तार के धन की स्वामिनी होगी। अगर वह सुशीला आज्ञावान् कुटुम्बपालन में तत्पर और स्वधर्मानुगामिनी है ॥ १०४—१०५ ॥

सानुकूला च सर्वेषां स्वामिपर्यंकसेविका।
शुश्रूषया च सर्वेषु विनयानतमस्तका ॥ १०६ ॥
नहि सापि व्ययं कर्तुं समर्था तद्धनस्य वै।
निजेच्छया निजां श्वश्रूमनापृच्छ्य च कुत्रचित् ॥ १०७ ॥

अर्थ—यदि उक्त विधवा कुटुम्ब जनों के अनुकूल है, भर्त्ता की शय्या की सेवक है सासु का आदर करनेवाली है तो भी सासु की आज्ञा (सम्मति) विना अपने पति का द्रव्य ख़र्च नहीं कर सकती है ॥ १०६—१०७ ॥

नोट—ये दोनों श्लोक पिछले दोनों श्लोक अर्थात् १०४—१०५ के साथ मिलकर ख़ानदान के लिये एक उमदा क़ायदा क़ायम करते हैं जो वास्तव में केवल हिदायती (शिक्षा रूप में) है।

श्वशुरस्थापिते द्रव्ये श्वश्रूसत्वेऽथवा वधूः।
नाधिकारमवाप्नोति भुक्त्याच्छादनमंतरा ॥ १०८ ॥

अर्थ—जिस विधवा की सासु जीवित हो उसको ससुरे के धन में केवल भोजन वस्त्र का अधिकार है, विशेष दाय का नहीं ॥१०८॥

दत्तगृहादिकं सर्वं कार्यं श्वश्रूमनोऽनुगम्।
करणीयं सदा वध्वा श्वश्रूर्मातृसमा यतः ॥ १०९ ॥

अर्थ—उक्त विधवा सासु के इच्छानुकूल सौंपा हुआ घर का कार्य उसकी प्रसन्नता के लिए करती रहे, क्योंकि सासु माता समान होती है ॥ १०९ ॥

गृह्णीयाद्दत्तकं पुत्रं पतिवद्विधवा वधूः ।
न शक्ता स्थापितुं तं च श्वश्रूर्निजपतेः पदे ॥ ११० ॥

अर्थ—विधवा बहू को दत्तक पुत्र अपने पति की तरह लेना चाहिए। सासु अपने पति के स्थान पर किसी को दत्तक स्थापन नहीं कर सकती ॥ ११० ॥

स्वभर्त्रोपार्जितं द्रव्यं श्वश्रूश्वशुरहस्तगम् ।
विधवाप्तुं न शक्ता तत्स्वामिदत्ताधिपैव हि ॥ १११ ॥

अर्थ—पति के निजी धन में से जो द्रव्य सासु श्वसुर के हाथ लग चुका है उसको विधवा बहू उनसे वापिस नहीं ले सकती। जो कुछ पति ने उसको अपने हाथ से दिया है वही उसका है ॥१११॥

नोट—जो कुछ पति ने अपने पिता माता को दे डाला है उसकी मृत्यु पश्चात् लौटाया नहीं जा सकता।

अपुत्रपुत्रमरणे तद्द्रव्यं लाति तद्वधूः ।
तन्मृतौ तस्य द्रव्यस्य श्वश्रूः स्यादधिकारिणी ॥ ११२ ॥

अर्थ—जो पुत्र सन्तान बिना मरे उसका द्रव्य उसकी विधवा को मिले, और उस विधवा बहू की मृत्यु हो जाय तब उसका द्रव्य सासु लेवे ॥ ११२ ॥

रमणोपार्जितं वस्तु जंगमं स्थावरात्मकम् ।
देवयात्राप्रतिष्ठादिधर्म्मकार्ये च सौहृदे ॥ ११३ ॥
श्वश्रूसत्वे व्ययीकर्तुं शक्ता चेद्विनयान्विता ।
कुटुम्बस्य प्रिया नारी वर्णनीयान्यथा नहि ॥ ११४ ॥

अर्थ--पति की उपार्जित की हुई जङ्गम स्थावर सामग्री देव-यात्रा प्रतिष्ठादिक धर्मकार्यों में लगाने, खर्चने और कुटम्बी जनों को दान देने के लिए विधवा को अधिकार है, अगर वह विनयवान् व प्रशंसापात्र, सर्व प्रिय आदि गुणवाली हो, अन्यथा नहीं ॥ ११३-११४ ॥

अनपत्ये मृते पत्यौ सर्वस्य स्वामिनी वधूः ।
सापि दत्तमनादाय स्वपुत्रीप्रेमपाशतः ॥ ११५ ॥
ज्येष्ठादिपुत्रदायादाभावे पञ्चत्वमागता ।
चेत्तदा स्वामिनी पुत्री भवेत्सर्वधनस्य च ॥ ११६ ॥
तन्मृतौ तद्धवः स्वामी तन्मृतौ तत्सुतादयः ।
पितृपक्षीयलोकानां नहि तत्राधिकारिता ॥ ११७ ॥

अर्थ--जो पुरुष संतान रहित मर जाय तो उसके समस्त द्रव्य की उसकी स्त्री मालिक होगी । यदि वह स्त्री अपनी पुत्री के प्रेमवश किसी को दत्तक पुत्र न बनावे और वह स्त्री मृत्यु पावे तो उसका धन उसके पति के भतीजे आदि की उपस्थिति में भी उसकी पुत्री को मिलेगा । उस कन्या के मरे पीछे उसका पति, उसके मरे पीछे उसके पुत्रादिक वारिस होंगे । उसके पितृ-पक्ष के लोगों का कुछ अधिकार नहीं रहता है ॥ ११५--११७ ॥

जामाता भागिनेयश्च श्वश्रूश्चैव कथंचन ।
नैवैतेऽत्र हि दायादाः परगोत्रत्वभावतः ॥ ११८ ॥

अर्थ--जमाई, भानजा और सासु यह दाय भाग के कदापि अधिकारी नहीं हैं । क्योंकि यह भिन्न गोत्र के हैं ॥ ११८ ॥

साधारणं च यद्द्रव्यं तद्भ्राता कोऽपि गोपयेत् ।
भागयोग्यः स नास्त्येव दण्डनीयो नृपस्य हि ॥ ११९ ॥

अर्थ—भाग करने योग्य द्रव्य में से यदि कोई भाई कुछ द्रव्य गुप्त कर दे तो हिस्से के अयोग्य होता है। और राजदरबार से दण्ड का भागी होगा ॥ ११९ ॥

सप्तव्यसनसंसक्ताः सोदरा भागभागिनः ।
न भवंति च ते दण्ड्या धर्म्मभ्रंशेन सज्जनैः ॥ १२० ॥

अर्थ—जो कोई भाई सप्त कुव्यसनों के विषयी हों वे दायभाग के भागी नहीं हो सकते, क्योंकि वह सज्जनों द्वारा धर्मभ्रष्ट होने के कारण दण्ड के पात्र हैं ॥ १२० ॥

गृहीत्वा दत्तकं पुत्रं स्वाधिकारं प्रदाय च ।
तस्माद्दात्मीयवित्तेषु स्थिता स्वे धर्म्मकर्म्मणि ॥ १२१ ॥

कालचक्रेण सोऽनूढश्चेन्मृतो दत्तकस्ततः ।
न शक्ता स्थापितुं सा हि तत्पदे चान्यदत्तकम् ॥ १२२ ॥

अर्थ—यदि किसी विधवा स्त्री ने दत्तक पुत्र लिया हो और उसको अपना संपूर्ण द्रव्य देकर ख़ुद धर्मकार्य में लीन हुई हो और दैवयोग से वह दत्तक मर जाय तो उक्त विधवा स्त्री दूसरा दत्तक पुत्र उसके पद पर नहीं बिठा सकती है ॥ १२१—१२२ ॥

जामातृभागिनेयेभ्यः सुतायै ज्ञातिभोजने ।
अन्यस्मिन् धर्म्मकार्य्ये वा दद्यात्स्वं स्वं यथारुचि ॥ १२३ ॥

अर्थ—वह (मृतक पुत्र की माता) चाहे तो मृतक के धन को अपने जमाई, भानजा या पुत्री को दे दे या जातिभोजन तथा धर्म-कार्य में इच्छानुकूल लगा दे ॥ १२३ ॥

युक्तं स्थापयितुं पुत्रं स्वीयभर्तृपदे तया ।
कुमारस्य पदे नैव स्थापनाज्ञा जिनागमे ॥ १२४ ॥

अर्थ—अपने पति के स्थान पर पुत्र गोद लेने का उसको अधिकार है; कुमार के स्थान पर दत्तक स्थापित करने की जिनागम में आज्ञा नहीं है ॥ १२४ ॥

विधवा हि विभक्ता चेद्व्ययं कुर्याद्यथेच्छया ।
प्रतिषेद्धा न कोऽप्यत्र दायादश्च कथंचन ॥ १२५ ॥

अर्थ—यदि विधवा स्त्री जुदी हो तो अपना द्रव्य निज इच्छानुसार व्यय कर सकती है; किसी अन्य दायाद को उसके रोकने का अधिकार नहीं ॥ १२५ ॥

अविभक्ता सुताभावे कार्य्ये त्वावश्यकेऽपि वा ।
कर्त्तुं शक्ता स्ववित्तस्य दानमाधिं च विक्रयम् ॥ १२६ ॥

अर्थ—आवश्यकता के समय अन्य मेम्बरों के साथ शामिल रहनेवाली पुत्ररहित विधवा भी द्रव्य का दान तथा गिरवी वा बिक्री कर सकेगी ॥ १२६ ॥

वाचा कन्यां प्रदत्त्वा चेत्पुनर्लोभे ततो हरेत् ।
स दण्ड्यो भूभृता दद्याद्वरस्य तद्धनव्यये ॥ १२७ ॥

अर्थ—जो कोई प्राणी अपनी कन्या किसी को देनी करके लोभवश दूसरे पुरुष को देवे तो राजा उसको दण्ड दे और जो उसका ख़र्च हुआ हो वह प्रथम पति को दिलवा दे ॥ १२७ ॥

कन्यामृतौ व्ययं शोध्य देयं पश्चाच्च तद्धनम् ।
मातामहादिभिर्दत्तं तद्गृह्णन्ति सहोदराः ॥ १२८ ॥

अर्थ—यदि सगाई किये पीछे (और विवाह से प्रथम) कन्या मर जाय तो जो कुछ उसको दिया गया हो वह ख़र्च काटकर (उसके भावी पति को) लौटा देवे। जो कुछ कन्या के पास नाना आदि का दिया हुआ द्रव्य हो वह कन्या के सहोदर भाइयों को दिया जायगा ॥ १२८ ॥

निह्नुते कोऽपि चेज्जाते विभागे तस्य निर्णयः ।
लेख्येन बन्धुलोकादिसाक्षिभिर्भिन्नकर्मभिः ॥ १२९ ॥

अर्थ—यदि विभाग करने में कोई संदेह हो तो उसका निर्णय किस तौर से होगा ? उसका निर्णय किसी लेख से, भाइयों की तथा अन्य लोगों की गवाहियों से, और अन्य तरीक़ों से करना चाहिए ॥ १२९ ॥

अविभागे तु भ्रातृणां व्यवहार उदाहृतः ।
एक एव विभागे तु सर्वः संजायते पृथक् ॥ १३० ॥

अर्थ—बिना विभाग की हुई अवस्था में सब भाइयों का व्यवहार शामिल माना जाता है। यदि एक भाई अलग हो जाय तो सबका विभाग अलग अलग हो जायगा ॥ १३० ॥

भ्रातृवद्विधवा मान्या भ्रातृजाया स्वबन्धुभिः ।
तदिच्छया सुतस्तस्य स्थापयेद्भ्रातृके पदे ॥ १३१ ॥

अर्थ—भाई की विधवा को शेष भाई भाई के समान मानते रहें और उसके इच्छानुसार उसके लिए दत्तक पुत्र को मृतक भाई के पद पर स्थापित करें ॥ १३१ ॥

यत्किंचिद्वस्तुजातं हि स्वारामाभूषणादिकम् ।
यस्मै दत्तं च पितृभ्यां तत्तस्यैव सदा भवेत् ॥ १३२ ॥

अर्थ—जो आभूषण आदिक माता पिता ने किसी भाई को उसकी स्त्री के लिए दिये हों वह ख़ास उसी के होंगे ॥ १३२ ॥

अविनाश्य पितुर्द्रव्यं भ्रातॄणां सहायतः ।
हृतं कुलागतं द्रव्यं पिता नैव यदुद्धृतम् ॥ १३३ ॥
तदुद्धृत्य समानीतं लब्धं विद्याबलेन च ।
प्राप्तं मित्राद्विवाहे वा तथा शौर्येण सेवया ॥ १३४ ॥

अर्जितं येन यत्किंचित्तत्तस्यैवाचितं भवेत् ।
तत्र भागहरा न स्युरन्ये केऽपि च भ्रातरः ॥ १३५ ॥

अर्थ—जो कोई भागदार पिता की जायदाद को व्यय किये बिना और भाइयों की सहायता बिना धन प्राप्त करे, और जो कुछ कोई भाई पितामह के द्रव्य को, जो हाथ से निकल गया था और पिता के समय में फिर नहीं मिल सका था, प्राप्त करे, और जो कुछ विद्या की आमदनी हो, या दोस्तों से विवाह के मौके पर मिला हो, या जो बहादुरी या नौकरी करके उपार्जन किया गया हो वह सब प्राप्त करनेवाले ही का है; उसमें और कोई भाई हक़दार नहीं हो सकता ॥ १३३—१३५ ॥

विवाहकाले वा पश्चात्पित्रा मात्रा च बन्धुभिः ।
पितृव्यैश्च बृहत्स्वस्रा पितृष्वस्रा तथा परैः ॥ १३६ ॥
मातृष्वस्रादिभिर्दत्तं तथैव पतिनापि यत् ।
भूषणांशुकपात्रादि तत्सर्वं स्त्रीधनं भवेत् ॥ १३७ ॥

अर्थ—विवाह के समय, अथवा पीछे पिता ने, माता ने, बंधुओं ने, पिता के भाइयों ने, बड़ी बहिन ने, बुआ ने, या और लोगों ने, या मौसी इत्यादि ने, या पति ने, जो कुछ आभूषण वस्त्रादिक दिये हों सो सब स्त्रीधन है। उसकी स्वामिनी वही है ॥ १३६—१३७ ॥

विवाहे यच्च पितृभ्यां धनमाभूषणादिकम् ।
विप्राग्निसाक्षिकं दत्तं तदध्याग्निकृतं भवेत् ॥ १३८ ॥

अर्थ—विवाह के समय माता-पिता ने ब्राह्मण तथा अग्नि के सम्मुख अपनी कन्या को जो वस्त्र-आभूषण दिये सो सब अध्याग्नि स्त्रीधन है ॥ १३८ ॥

पुनः पितृगृहाद्रूढ्वाऽनीतं यद्भूषणादिकम् ।
बन्धुभ्रातृसमक्षं स्यादध्याहृनिकं च तत् ॥ १३९ ॥

अर्थ—पुनः विवाह पश्चात् पिता के घर से ससुराल को जाते समय जो कुछ वह भाइयों और कुटुम्ब जनों के समक्ष लावे वह आभूषणादिक सब अध्याह्वनिक स्त्री-धन कहलाता है ॥ १३९ ॥

प्रीत्या स्नुषायै यद्दत्तं श्वश्वा च श्वशुरेण च ।
मुखेक्षणाङ्घ्रिनमने तद्धनं प्रीतिजं भवेत् ॥ १४० ॥

अर्थ—मुख दिखाई तथा पग पड़ने पर सासु ससुर ने जो कुछ दिया हो वह प्रीतिदान स्त्रीधन कहलाता है ॥ १४० ॥

पुनर्भ्रातुः सकाशाद्यत्प्राप्तं पितुगृ‍हात्तथा ।
ऊढया स्वर्णरत्नादि तत्स्यादौदयिकं धनम् ॥ १४१ ॥

अर्थ—विवाह पीछे फिर जो सोना रत्नादि विवाहित स्त्री अपने भाइयों अथवा मैके से लावे वह औदयक स्त्री-धन कहलाता है ॥१४१॥

परिक्रमणकाले यद्दत्तं रत्नांशुकादिकम् ।
जायापतिकुलस्त्रीभिस्तदन्वाधेयमुच्यते ॥ १४२ ॥

अर्थ—और परिक्रमा समय जो कुछ रत्न, रेशमी वस्त्रादिक पति के कुटुम्ब की स्त्रियाँ व विवाहित स्त्री वा पुरुष से मिले वह अन्वाधेय स्त्री धन कहलता है ॥ १४२ ॥

एतत् स्त्रीधनमादातुं न शक्तः कोऽपि सर्वथा ।
भागार्हं यतः प्रोक्तं सर्वैर्नीतिविशारदैः ॥ १४३ ॥

अर्थ—उपर्युक्त प्रकार के स्त्रीधन को कोई दायाद नहीं ले सकता है। कारण कि सर्वनीतिशास्त्रों के जाननेवालों ने इनको विभाग के अयोग्य बतलाया है ॥ १४३ ॥

धारणार्थमलङ्कारो भर्त्रा दत्तो न केनचित् ।
गृह्यः पतिमृतौ सोऽपि व्रजेत्स्त्रीधनतां यतः ॥ १४४ ॥

अर्थ—जो आभूषण भर्तार ने अपनी स्त्री के लिए बनवाए परन्तु उनको उसे देने से प्रथम आप मर गया तो उनको कोई दायाद नहीं ले सकता है। क्योंकि वह उसका स्त्रीधन है ॥ १४४ ॥

व्याधौ धर्मे च दुर्भिक्षे विपत्तौ प्रतिरोधके।
भर्त्तानन्यगतिः स्त्रीस्वं लात्वा दातुं न चार्हति ॥ १४५ ॥

अर्थ—बीमारी में, धर्म-काम के लिए, दुर्भिक्ष में, आपत्ति के समय में या बन्धन के अवसर पर यदि पति के पास और कोई सहारा न हो और वह स्त्री-धन को ले ले तो उसका लौटाना आवश्यक नहीं है ॥ १४५ ॥

सम्भवेदत्र वैचित्र्यं देशाचारादिभेदतः।
यत्र यस्य प्रधानत्वं तत्र तद्बलवत्तरम् ॥ १४६ ॥

अर्थ—विविध देशों के रिवाजों के कारण नीति में भेद पाया जाता है। जो रिवाज जहाँ पर प्रधान होता है वही वहाँ पर लागू होगा ॥ १४६ ॥

इत्येवं वर्णितस्त्वत्र दायभागः समासतः।
यथाश्रुतं विपश्चिद्भिर्ज्ञेयोऽर्हन्नीतिशास्त्रतः ॥ १४७ ॥

अर्थ—इस रीति से यहाँ सामान्यतः आगमानुसार, जैसा सुना है वैसा, दायभाग का वर्णन किया। इस विषय में अधिक देखना हो तो जैन मत के नीतिशास्त्रों को देखना चाहिए ॥ १४७ ॥

तृतीय भाग

जैन धर्म और डाक्टर गौड़ का "हिन्दू कोड"

यह बात छिपी हुई नहीं है कि कोई कोई वकील बैरिस्टर आवश्यकता पड़ने पर मनसूखशुदा नज़ोरें भी पेश करने में सङ्कोच नहीं करते, किन्तु यह किसी के ध्यान में नहीं आता कि डाक्टर गौड़ जैसे उच्च कोटि के क़ानूनदाँ क़ानून-गौरव-पद्धति का ऐसा निरादर और अनाचार करेंगे। विज्ञ डाकृर ने अपने "हिन्दू कोड" में जैन धर्म के विषय में कितनी ही बातें ऐसी लिखी हैं जो केवल आश्चर्य-जनक हैं और वैज्ञानिक खोज द्वारा सिद्ध सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। "वह जैनियों को" हिन्दू डिस्से'टर्ज़ अर्थात् हिन्दू धर्मच्युत भिन्न मतानुयायी कहते हैं, और जैन धर्म को बौद्ध-धर्म का बच्चा बतलाते हैं।

हिन्दू कोड का ३३१ वाँ पैराग्राफ़ इस प्रकार है—

"जैन धर्म बौद्ध धर्म से अधिक प्राचीन होने का दावा करता है, किन्तु वह उसका बच्चा है। वास्तव में वह बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म के बीच में का व्युत्पन्न मत है, जो उन लोगों ने स्थापित किया है जिनको एक नूतन धर्म स्वीकार नहीं था, और जिन्होंने एक ऐसे धर्म की शरण ली जिसने अपना पुराना नाता हिन्दू धर्म से क़ायम रक्खा और बौद्ध धर्म से उसके धार्मिक आचार विचार ले लिये। समय पाके जैसे जैसे बौद्ध धर्म का प्रभाव भारत-वर्ष में कम होता गया, उसकी गिरती हुई महिमा जैन धर्म में बनी रही, और गिरते गिरते वह हिन्दू धर्म के एक ऐसे रूपान्तर में परिणत हुआ कि जिसमें उसका स्वत्व मिलकर लोप हो गया।"

डाक्टर गौड़ ने किसी एक भी हिन्दू अथवा बौद्ध शास्त्र, व पुराने ग्रन्थ का उल्लेख नहीं किया है जिसमें जैन धर्म के अभ्युत्थान का वर्णन हो और वह ऐसा कोई भी धर्म-विचार वा धर्म-आचार नहीं बतला सकते हैं, जो जैन धर्म ने बौद्ध धर्म से लिया हो, तथापि उनको उपर्युक्त लेख लिखते हुए सङ्कोच नहीं हुआ।

उनके प्रमाण निम्नलिखित हैं—

(१) माउन्ट स्टुअर्ट एल्फिस्टन् लिखित हिन्दू इतिहास

(२) हिन्दुस्तान की अदालतों के कुछ फ़ैसले

(३) १८८१ की बंगाल मनुष्य-गणना की रिपोर्ट पृ० ८७—८८

किन्तु ये समकालीन लेख नहीं हैं और अदालत की नज़ीरों में कहीं भी इस बात के निर्णय करने की चेष्टा नहीं की गई है कि जैन धर्म हिन्दू धर्म वा बौद्ध धर्म का बच्चा है, अथवा नहीं। इनमें से एक फ़ैसले में केवल एल्फिंस्टन के भारत-इतिहास से निम्न लिखित पङ्क्तियों की आवृत्ति की गई है और वह भी एक समाचार के रूप में—

"जान पड़ता है कि जैनों की उत्पत्ति हमारे (ईसा के) संवत् की छठी वा सातवीं शताब्दी में हुई। आठवीं वा नवीं शताब्दी में वह विख्यात हुए, ग्यारहवीं में उन्नति सीमा पर पहुँच गये और बारहवीं के पीछे उनका पतन हुआ।"

यह विचार निस्सन्देह प्रारम्भिक अन्वेषणार्थियों का था जो जैन धर्म के विषय में बहुत कम ज्ञान रखते थे, किन्तु जितनी आधुनिक खोज हुई है उस सबका निर्विवाद परिणाम यही है कि जैन धर्म को बौद्ध धर्म की शाखा समझना एक भूल थी। इस विषय में योरुपीय व भारतवर्षीय प्राच्य-विद्वानों व खोज करनेवालों में कुछ भी मतभेद वा अन्तर नहीं है।

प्रोफेसर टी० डब्ल्यु० र्‌हिस डेविड्स (Prof. T. W. Rhys Davids) अपनी पुस्तक "बुद्धिस्ट इन्डिया" (Buddhist India) में पृष्ठ १४३ पर लिखते हैं—

"भारत इतिहास में बौद्ध धर्मोत्थान से पहिले से अब तक जैन जनता एक सङ्गठित समाज रूप में रहती आई है।"

एल्फिंस्टन के मतानुसार जैनियों की उत्पत्ति ईसा की छठी शताब्दी में हुई है, किन्तु र्‌हिस डेविड्स ने दिखला दिया है कि जैन शास्त्र ईसा से चौथी शताब्दी पहले लिखे जा चुके थे। बुद्धिस्ट इंडिया पुस्तक में पृष्ठ १६४ पर वह लिखते हैं—

"यह शास्त्र वह हैं जो ईसा से चौथी शताब्दी पहले बन चुके थे जब कि भद्रबाहु समाज के गुरु थे।"

एल्फिंस्टन ने तो इतना ही कहा था कि "मालूम पड़ता है, कि जैनियों की उत्पत्ति...इत्यादि" किन्तु डाक्टर गौड़ निश्चय के साथ कहते हैं कि जैन धर्म केवल बौद्ध धर्म का बच्चा है, "वास्तव में वह बौद्ध और हिन्दू धर्मों का समझौता है"। डाक्टर गौड़ ने किस आधार पर एक पुराने युरोपीय विचारवाले लेखक की सम्मति को, जो उसने संकुचित और विशेषणात्मक शब्दों में प्रकट की थी, बदलकर निश्चय वाक्य रूप में ३३१ वें पैराग्राफ में हिन्दू कोड में लिख डाला, यह उन्हीं को मालूम होगा। किन्तु क्या वह कह सकते हैं कि वह उन बातों से अनभिज्ञ हैं जो १८८१ के पीछे पक्षपात रहित विद्वानों ने खोज करके सिद्ध की हैं? थोड़ा समय हुआ डाकूर टी० के० लड्डू ने, जो एक हिन्दू विद्वान् हुए हैं, कहा था—"वर्द्धमान महावीर के पहले के किसी प्रामाणिक इतिहास का हमको पता नहीं लगता है, किन्तु इतना तो निश्चित और सिद्ध है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से पुराना है, और महावीर के समय से पहले पार्श्वनाथ वा

किसी और तीर्थंकर ने इसको स्थापित किया था" (देखो पूर्ण व्याख्यान डाक्टर टी० के० लड्डू जिसको आनरेरी सेक्रेटरी स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस ने प्रकाशित किया है)। स्वर्गीय महामहोपाध्याय डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने भी इसी बात को सिद्ध किया है कि "यह निर्णय होता है कि इन्द्रभूति गौतम जो कि महावीर का निज शिष्य था, और जिसने उनके उपदेशों का संग्रह किया, बुद्ध गौतम का समकालीन था, जिसने कि बौद्ध धर्म चलाया; और अक्षपाद गौतम का भी समकालीन था, जो कि ब्राह्मण था और न्याय सूत्र का बनानेवाला था" (देखो जैन गज़ेट जिल्द १० नं० १)।

डाक्टर जे० जी० ब्यूह्लर (Dr. J. G. Buhler, C. I. E., LL. D, Ph. D.) बतलाते हैं—

"जैनियों के तीर्थंकर-सम्बन्धी व्याख्याओं को बौद्ध स्वतः ही सिद्ध करते हैं; पुराने ऐतिहासिक शिलालेखों से यह सिद्ध होता है कि जैन आम्नाय स्वतंत्र रूप में बुद्ध की मृत्यु के पीछे की पांच शताब्दियों में भी बराबर प्रचलित थी, और कुछ शिलालेख तो ऐसे हैं कि जिनसे जैनियों के कथन पर कोई सन्देह धोखा देने का नहीं रह जाता है; बल्कि उसकी सत्यता दृढ़ता से सिद्ध होती है।" (देखो "The Jainas" PP. 22-23)*।

मेजर-जनरल जे० जी० आर फौर्लोंग (J. G. R. Forlong, F. R. S. E., F. R. A. S., M. A. D., etc, etc.) लिखते हैं—

"ईसा से पहले १२०० से ८०० वर्ष तक, बल्कि एक अज्ञात समय से उत्तरीय पश्चिमीय और उत्तरीय-मध्य भारत तूरानियों के, जिनको सुभीते के लिए द्राविड़ कहा गया है, राज्य शासन में था, और वहां वृक्ष, सर्प और लिङ्ग-पूजा

---

*फ्रान्स के प्रसिद्ध विद्वान् डा० ए० गेरीनो अपनी जैन बिब्लीओग्रफी की भूमिका में लिखते हैं कि "इसमें अब कोई सन्देह नहीं है कि पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष हुए हैं।...... ......इस काल में जैन मत के २४ गुरु हुए हैं। ये सामान्य रूप से तीर्थङ्कर कहलाते हैं। २३ वें अर्थात् पार्श्वनाथजी से हम इतिहास और यथार्थता में प्रवेश करते हैं।"—अनुवादक

का प्रचार था........किन्तु उस समय में भी उत्तरीय भारत में एक प्राचीन और अत्यन्त संगठित धर्म प्रचलित था, जिसके सिद्धान्त, सदाचार और कठिन तपश्चरण के नियम उच्च कोटि के थे। यह जैन धर्म था। जिसमें से ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों के प्रारम्भिक तपस्वियों के आचार स्पष्टतया ले लिये गये हैं, (देखो Short Studies in the Science of Comparative Religion. PP. 243—244.)।

अब वह दावा कहाँ रहा कि जैन हिन्दू डिस्सेंटर्ज़ हैं और जैन धर्म बौद्ध धर्म का बच्चा है। पुराने प्राच्य विद्वानों की भूल को एक मुख्य अन्तिम प्रामाणिक लेख में इस प्रकार दिखलाया है-- (The Encyclopædia of Religion and Ethics. Vol. VII. P. 465)—

"यद्यपि उनके सिद्धान्तों में मूल से ही अन्तर है, तथापि जैन और बौद्ध धर्म के साधु हिन्दू धर्म के वितरिक्त होने के कारण, वाह्य भेष में कुछ एक से दिखाई पड़ते हैं और इस कारण भारतीय लेखकों ने भी उनके विषय में धोखा खाया है। अत: इसमें आश्चर्य ही क्या है कि कुछ यूरोपीय विद्वानों ने जिनको जैन धर्म का ज्ञान अपूर्ण जैन धर्मपुस्तकों के नमूनों से हुआ, यह आसानी से समझ लिया कि जैनमत बौद्ध धर्म की शाखा है। किन्तु तत्पश्चात् यह निश्चयात्मक रूप से सिद्ध हो चुका है कि यह उनकी भूल थी और यह भी कि जैन धर्म इतना प्राचीन तो अवश्य ही है जितना कि बौद्ध धर्म। बौद्धों की धर्म पुस्तकों में जैनों का वर्णन बहुत करके मिलता है, जहाँ उनको प्रतिपक्षी मतानुयायी और पुराने नाम 'निगंथ' (निर्ग्रन्थ) से नामाङ्कित किया गया है।...... बुद्ध के समय में जैन गुरु को नात पुत्त और उनके निर्वाण स्थान को पावा कहा गया है। नात व नातिपुत्त जैनियों के अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर का विशेषण था और इस प्रकार बौद्ध पुस्तकों से जैन धर्म के कथन का समर्थन होता है। इधर जैनियों के धर्मग्रन्थों में महावीर स्वामी के समकालीन वही राजा कहे गये हैं जो बुद्ध के समय में शासन करते थे, जो बुद्ध का प्रतिपक्षी था। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया, कि महावीर बुद्ध का समकालीन था और बुद्ध से उम्र में कुछ बड़ा था। महावीर स्वामी के पावापुर में निर्वाण होने के पश्चात् बुद्ध जीवित रहे। बुद्ध तो बौद्ध धर्म का संस्थापक था महावीर शायद

जैनधर्म का संस्थापक वा उत्पत्ति करनेवाला नहीं था। जैनी उनको परम गुरु करके मानते हैं।......उनसे पूर्वगत पार्श्वनाथ, जो अन्तिम तीर्थंकर से पहले हुए हैं, मालूम होता है कि जैन धर्म के संस्थापक प्रबल युक्ति के साथ कहे जा सकते हैं,......किन्तु ऐतिहासिक प्रमाण-पत्रों की अनुपस्थिति में हम इस विषय में केवल तर्क-वितर्क ही कर सकते हैं"।

डाक्टर गौड़ के दूसरे सिद्धान्त के विषय में—कि जैनियों ने अपने धार्मिक तत्त्व और आचार बौद्ध धर्म से लिये हैं—सत्यार्थ इसके नितान्त प्रतिकूल है। सबसे अंतिम प्रमाण में निम्न प्रकार दर्शाया गया है; देखो Encyclopædia of Religion and Ethics, Vol. VII, page 472—

"अब इस प्रश्न का उत्तर दिया जाना चाहिए जो प्रत्येक विचारवान् पाठक के मन में उत्पन्न होगा। क्या जैनियों का कर्म-सिद्धान्त......जैन-दर्शन का प्रारम्भिक और आवश्यकीय अङ्ग है? यह सिद्धान्त ऐसा गहन और कल्पित विदित होता है कि शीघ्र ही मन में यह बात आती है कि यह एक आधुनिक आध्यात्मिक तत्त्व संग्रह है जो एक प्रारम्भिक धार्मिक दर्शन के मूल पर लगाया गया है, जिसका आशय जीव-रक्षा और सर्व प्राणियों की अहिंसा का प्रचार था। किन्तु ऐसे मत का प्रतिकार इस बात से हो जाता है कि यह कर्म सिद्धान्त यदि पूर्ण ब्यौरेवार नहीं तो मूल तत्त्वों की अपेक्षा से तो जैन धर्म के पुराने से पुराने ग्रन्थों में भी पाया जाता है, और उन ग्रन्थों के बहुत से वाक्यों और पारिभाषिक शब्दों में इसका पूर्व अस्तित्व झलकता है। हम यह बात भी नहीं मान सकते कि इस विषय में इन ग्रन्थों में पश्चात् के आविष्कृत तत्त्वों का उल्लेख किया गया है। क्योंकि आस्रव, संवर, निर्जरा आदि शब्दों का अर्थ तभी समझ में आ सकता है जब यह मान लिया जावे कि कर्म एक प्रकार का सूक्ष्म द्रव्य है जो आत्मा में बाहर से प्रवेश करता है (आस्रव); इस प्रवेश को रोका जा सकता है या इसके द्वारों को बन्द कर सकते हैं (संवर); और जिस कार्मिक द्रव्य का आत्मा में प्रवेश हो गया है, उसका नाश व क्षय आत्मा के द्वारा हो सकता है (निर्जरा) जैन धर्मावलम्बी इन शब्दों का उनके शाब्दिक अर्थ में ही प्रयोग करते हैं। और मोक्ष-मार्ग का स्वरूप इसी प्रकार कहते हैं कि आस्रव के संवर और निर्जरा से मोक्ष होता है। अब यह शब्द इतने ही पुराने हैं जितना कि जैन-

दर्शन। बौद्धों ने जैन-दर्शन से आस्रव का सारगर्भित शब्द ले लिया है। वह उसका प्रयोग उसी अर्थ में करते हैं जिसमें कि जैनियों ने किया है; किन्तु शब्दार्थ में नहीं। क्योंकि बौद्ध यह नहीं मानते कि कर्म कोई सूक्ष्म द्रव्य है और न वह जीव का अस्तित्व ही मानते हैं कि जिसमें कर्म का प्रवेश हो सके। यह स्पष्ट है कि बौद्धों के मत में 'आस्रव' का शाब्दिक अर्थ चालू नहीं है और इस कारण इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि उन्होंने इस शब्द को किसी ऐसे धर्म से लिया है कि जहाँ इसका प्रारम्भिक भाव प्रचलित था, अर्थात् जैन दर्शन से ही लिया है......। इस तरह एक ही युक्ति से साथ ही साथ यह भी सिद्ध हो गया कि जैनियों का कर्म-सिद्धान्त उनके धर्म का वास्तविक (निज का) और आवश्यक अङ्ग है, और जैन दर्शन बौद्ध धर्म की उत्पत्ति से बहुत अधिक पहिले का है।"

यदि डाक्टर गौड़ बौद्धों के शास्त्रों के पढ़ने का कष्ट उठाते तो उनको यह ज्ञात हो गया होता कि बुद्धदेव ने स्वत: जैनियों के अन्तिम तीर्थंकर महावीर परमात्मन् का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है—

"भाइयो! कुछ ऐसे संन्यासी हैं (अचेलक, आजीविक, निगंथ आदि) जिनका ऐसा श्रद्धान है और जो ऐसा उपदेश देते हैं कि प्राणी जो कुछ सुख दुख वा दोनों के मध्यस्थ भाव का अनुभव करता है वह सब पूर्व कर्म के निमित्त से होता है। और तपश्चरण द्वारा पूर्व कर्मों के नाश से और नये कर्मों के न करने से, आगामी जीवन में आस्रव के रोकने से कर्म का क्षय होता है और इस प्रकार पाप का क्षय और सब दुःख का विनाश है। भाइयो, यह निर्ग्रंथ [जैन] कहते हैं......मैंने उनसे पूछा क्या यह सच है कि तुम्हारा ऐसा श्रद्धान है और तुम इसका प्रचार करते हो...उन्होंने उत्तर दिया......हमारे गुरु नातपुत्त सर्वज्ञ हैं...उन्होंने अपने गहन ज्ञान से इसका उपदेश किया है कि तुमने पूर्व में पाप किया है, इसको तुम इस कठिन और दुस्सह आचार से दूर करो। और मन वचन काय की प्रवृत्ति का जितना निरोध किया जाता है उतने ही आगामी जन्म के लिए बुरे कर्म कट जाते हैं। ...इस प्रकार सब कर्म अन्त में क्षय हो जायँगे और सारे दुःख का विनाश होगा। हम इससे सहमत हैं।" (मज्झिम निकाय। २।२१४ व १। २३८; The Encyclopædia of Religion and Ethics, Vol. II, Page 70)।

❋ ❋ ❋ ❋

उपर्युक्त वाक्यों में पूर्ण उत्तर निम्न बातों का मिलता है—

(१) परमात्मा महावीर मनोकाल्पनिक नहीं वरन् एक वास्तविक ऐतिहासिक व्यक्ति हुए हैं, और (२) वह बुद्ध के समकालीन थे। मेरी राय में इस बात के अप्रमाणित करने के लिए कि जैनियों ने अपने तत्त्व और धार्मिक आचार बौद्धों से लिये और जैन धर्म ईसा की छठी शताब्दी में उत्पन्न हुआ और वह हिन्दू और बौद्ध धर्म का समझौता है केवल इतना ही पर्याप्त है।

इस मत के सिद्ध करने के लिए कि जैनी हिन्दू धर्म के अन्तर्गत भिन्न श्रद्धानी (डिस्सेंटर्ज़) हैं, न डाक्टर गौड़ ने, न और किसी ने नाम मात्र भी प्रमाण दिया है। यह केवल एक कल्पना ही है जो पुराने समय के योरोपीय लेखकों के आधार पर खड़ी की गई है जिनकी जानकारी धर्म के विषय में क़रीब क़रीब नहीं के बराबर ही थी और जिनके विचार वैदिक धर्म और अन्य भारतीय धर्मों के विषय में बच्चों और मूर्खों के से हास्योत्पादक हैं। यह सत्य है कि ऐतिहासिक पत्रों और शिलालेखों के अभाव में, जो सामान्यतः ईस्वी सन् के ३०० वर्ष से अधिक पहिले के नहीं मिलते हैं, कोई स्पष्ट साक्षी किसी ओर भी नहीं मिलती; किन्तु भिन्न धर्मों के वास्तविक सिद्धान्तों और तत्त्वों की अन्तर्गत साक्षी इस विषय में पूर्ण प्रमाण रूप है। परन्तु प्रारंभ के अन्वेषकों को इस प्रकार के खोज की पथ-रेखा पर चलने की योग्यता न थी। और इस मार्ग को उन्होंने लिया भी नहीं। मैंने अपनी प्रैक्टीकल पाथ (Practical Path) नामक पुस्तक के परिशिष्ट में, जो ५८ पृष्ठों में लिखा गया है, जैन और हिन्दू धर्म का वास्तविक सम्बन्ध प्रगट किया है और इसी विषय को अपनी की ऑफ़ नौलेज (Key of Knowledge) नाम की पुस्तक में (देखो दूसरी आवृत्ति पृष्ठ १०६८ से १०८०) और

Confluence of Opposites नाम के ग्रन्थ में (विशेष करके अन्तिम व्याख्यान को देखो) इस विषय को अधिकतया स्पष्ट किया है। इन ग्रन्थों में यह स्पष्ट करके दिखलाया गया है कि जैन धर्म सबसे पुराना मत है और जैनधर्म के तत्त्व भिन्न भिन्न दर्शनों और मतों के आधारभूत हैं। मैं विश्वास करता हूँ कि जो कोई कषाय और हठ को छोड़कर Confluence of Opposites नाम की मेरी पुस्तक को पढ़ेगा और उसके पश्चात् उन शेष पुस्तकों को पढ़ेगा जिनका उल्लेख किया गया है वह इस विषय में मुझसे कदापि असहमत न होगा। जो लोग कि जैनियों को हिन्दू धर्मच्युत भिन्नमतावलम्बी (डिस्सेंटर्ज़) कहते हैं उनकी युक्तियाँ निम्न प्रकार हो सकती हैं—

१—यह कि शान्ति, जीव दया, पुनर्जन्म, नरक, स्वर्ग, मोक्ष-प्राप्ति और उसके उपाय विषयों में जैनियों के धार्मिक विचार ब्राह्मणों के से हैं।

२—जाति-बन्धन दोनों में समान रूप में है।

३—जैन हिन्दू देवताओं को मानते हैं; और उनकी पूजा करते हैं। यद्यपि वह उनको नितान्त अपने तीर्थंकरों के सेवक समझते हैं।

४—जैनियों ने हिन्दू धर्म की बेहूदगियों को और भी बढ़ा दिया है। यहाँ तक कि उनके यहाँ ६४ इन्द्र और ३२ देवियाँ हैं।

अपने हिन्दू कोड के पृष्ठ १८०-१८१ पर महाशय गौड़ ने एल्फिन्स्टन की सम्मति के आधारभूत इन्हीं युक्तियों को उद्धृत किया है। किन्तु यह युक्तियाँ दोनों पक्ष में प्रबल पड़ती हैं। क्योंकि जब 'क' व 'ख' दो दर्शनों में कुछ विशेष बातें एक सी पाई जावें तो निश्चयतः यह नहीं कह सकते कि 'क' ने 'ख' से लिया है और 'ख' ने 'क' से नहीं। यह हो सकता है कि इन बातों को जैनियों ने हिन्दुओं से लिया हो, लेकिन यह भी हो सकता है कि

हिन्दुओं ने अपने धर्म के आधार को जैनियों से लिया हो। केवल सादृश्य इस बात के निर्णय में पर्याप्त नहीं है। और इन सादृश्यों में भी जहाँ तक कि इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण जीव दया का सम्बन्ध है मैं कह सकता हूँ कि अहिंसा को हिन्दू धर्म का चिह्न उस प्रकार से नहीं कह सकते जिस प्रकार वह जैन धर्म का लक्षण है। क्योंकि "अहिंसा परमो धर्मः" तो जैन धर्म का आदर्श वाक्य ही रहा है। तीसरी बात कि जैनी हिन्दू देवताओं को मानते और पूजते हैं वाहियात है। इसमें सच का आधार कुछ भी नहीं है। एलिफन्स्टन ने १—२ दृष्टान्त ऐसे पाये होंगे और उसी से उन्होंने यह समझ लिया कि सामान्यतया जैनी लोग हिन्दू देवताओं को मानते हैं। ऐसे दृश्य प्रत्येक धर्म में पाये जाते हैं। हिन्दू जनता और विशेषकर स्त्रियाँ आजकल मुसलमानों के ताज़ियों और पीरों की दर्गाहों को पूजते हैं। किन्तु क्या हम कह सकते हैं कि कतिपय व्यक्तियों के इस प्रकार अपनी धर्म-शिक्षा के विरुद्ध आचरण करने से सर्व हिन्दू "मुसलिम डिस्सेन्टर्ज़" हो गये? चौथी युक्ति सबसे भद्दी है। उसका आधार इस कल्पना पर है कि हिन्दू-धर्म बेहूदा है और जैनियों ने उसकी बेहूदगी में और भी अधिकता कर दी है। मुझे विश्वास है कि हिन्दू इससे सहमत न होंगे। सच तो यह है कि जिस बात को मिस्टर एलिफन्स्टन वाहियात समझते हैं वह स्वर्ग के शासक देवताओं की संख्या है जो इन्द्र कहलाते हैं। जैन धर्म में इन्द्रों की संख्या ६४* है और देवांगनाओं की संख्या भी नियत है। यदि यह माना जाय कि वास्तव में नरक और स्वर्ग का अस्तित्व ही नहीं है तो यह कथन निस्सन्देह वाहियात होगा। किन्तु जैनियों का श्रद्धान है कि यह कथन उनके सर्वज्ञ तीर्थंकर

* दिगम्बर मतानुसार इन्द्रों की संख्या सौ है।

का है और वह एक ऐसे लेखक के कहने से जो स्वपरधर्म से अनभिज्ञ है अपने श्रद्धान से च्युत न होंगे।

अब वह इन्द्र जिसका उपाख्यान हिन्दू धर्मशास्त्रों में स्थान स्थान पर है स्वर्ग का शासक नहीं है किन्तु जीवात्मा का अलंकार (रूप-दर्शक) है (देखो Confluence of Opposites व्याख्यान ५)। यदि एलिफन्स्टन और वह अन्य व्यक्ति जिन्होंने झटपट यह अनुमान कर लिया कि जैनी हिन्दू डिस्सेन्टर्ज़ थे ऋग्वेद के अर्थ को समझने का प्रयत्न करते तो वह यह जान लेते कि वह ग्रन्थ एक गुह्य भाषा में बनाया गया है कि जो बाह्य संस्कृत शब्दों के नीचे छिपी हुई है †। आधुनिक जनता इस गुह्य भाषा से नितान्त अनभिज्ञ है। यद्यपि वही होली-बाइबिल, ज़ैन्ड-अवस्था और क़ुरान समेत क़रीब क़रीब सभी धर्मग्रन्थों की वास्तविक भाषा है। किन्तु जैन धर्म किसी गुह्य भाषा में नहीं लिखा गया। और न उसमें अलङ्कारयुक्त देवी देवताओं का कथन है।

अब वह युक्ति जो जैन मत को हिन्दू मत से अधिक प्राचीन सिद्ध करती है, यह है कि घटना अलङ्कार से पहिले होती है, अर्थात् वैज्ञानिक ज्ञान अलङ्काररूपी सिद्धान्तों से पूर्व होता है। बात यह है कि जैन ग्रन्थ और वेद दोनों में प्रायः एक ही बात कही गई है, किन्तु जैन ग्रन्थों की भाषा स्पष्ट है और वेदों का कथन गुप्त शब्दों में है जिनको पहिले समझ लेने की आवश्यकता होती है। मैंने इस बात को अपनी पुस्तक कोन्फ़्लुएन्स ओफ़ ओप्पोज़िट्स (Confluence of Opposites) और प्रैक्टीकल पाथ (Practical Path) के परिशिष्ट में स्पष्ट कर दिया है और इस कथन को भिन्न

† उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त देखो दि परमेनेन्ट हिस्ट्री ऑफ़ भारतवर्ष और आत्म रामायण।

मतों के पूज्य ग्रन्थों से दृष्टांत ले लेकर दर्शा दिया है। दुर्भाग्य-वश एल्फिन्स्टन को स्वपरधर्म की गुप्त भाषा का ज्ञान ही न था और जो मन में आया वह कह गया। फ़ौरलौंग (Forlong) ने यह दिखला दिया है कि ब्राह्मणों का योगाभ्यास जैनियों के तपश्चरण से किस प्रकार लिया गया (देखो शौर्ट स्टडीज़ इन कम्पैरेटिव रिलीजन: Short Studies in Comparative Religion)।

जिन नज़ीरों का डा० गौड़ ने उल्लेख किया है उनमें १० बम्बई हाईकोर्ट रिपोर्ट पृष्ठ २४१—२६७ अपनी किस्म का सबसे प्रधान नमूना है। यह फ़ैसला सन् १८७३ में हुआ जब कि पुरानी भूलें पूर्णतया प्रचलित थीं। हम मानते हैं कि विद्वान् न्यायाधीशों ने अपने ज्ञान-दीपकों की सहायता से विचारपूर्वक न्याय किया, किन्तु उनके ज्ञानदीपक ठीक नहीं थे। उन्होंने एल्फिन्स्टन के कथन का (जो हिन्दू कोड में उल्लिखित है) पृष्ठ २४७, २४८, २४९ पर उल्लेख किया; और कुछ फ़ौजी यात्रियों के विवरण और कुछ और छोटे छोटे ग्रन्थों का उल्लेख किया; और अन्त में पादरी डाक्टर विल्सन की सम्मति ली जिनको वह समझते थे कि पाश्चात्य भारत की भिन्न भिन्न जातियों और उनके साहित्य और रीतियों का इतना विस्तार रूप ज्ञान था जितना किसी भी जीवित व्यक्ति को, जिसका नाम सहज में ध्यान में आ सके, हो सकता है। डाक्टर विल्सन की सम्मति यह थी कि वह जैन जाति की पुस्तकों में अथवा हिन्दू लेखकों के ग्रंथों में ऐसा कोई प्रमाण नहीं जानते थे जिससे उस रिवाज की सिद्धि हो सके जो उस मुक़द्दमे में वादी पक्ष प्रतिपादन करते थे। उन्होंने यह भी कहा कि उनको जैन जाति के एक यति और उसके ब्राह्मण सहायकों (Assistants) ने यह बत-

लाया था कि वह लोग भी ऐसा कोई प्रमाण नहीं जानते थे; और दत्तक पुत्र के विषय में हिन्दू धर्म शास्त्र ही समान्यतया आधार-भूत था। हाईकोर्ट ने इस बात का भी सहारा लिया कि विवाह संस्कार आदि बहुत सी बातों में जैनी लोग ब्राह्मणों की सहायता लेते हैं। उन्होंने कोलब्रुक, विल्सन और अन्य लेखकों का भी उल्लेख किया है जो उपर्युक्त युक्तियों के आधार पर एल्फिन्स्टन से सहमत हैं। विदित होता है कि जैन ग्रन्थ पेश नहीं किये गये। यद्यपि उनमें से कुछ के नाम जैसे वर्द्धमान (नीति), गौतम प्रश्न, पुण्य वचन (Poonawachun) आदि लिये गये थे (देखो पृष्ठ २५५—२५६)। महाराज गोविन्दनाथ राय बनाम गुलालचन्द वगैरह कलकत्ता के मुक़दमे में सन् १८३३ मे इनमें से कुछ के हवाले प्रगट रूप में दिये गये थे (देखो ५ सदर दीवानी रिपोर्ट पृष्ठ २७६)। इस मुक़द्दमे का उल्लेख हाईकोर्ट की तजवीज़ में है और मिस्टर स्टील की "हिन्दू कास्टम्स" नाम की पुस्तक का भी। मिस्टर स्टील ने दिखलाया है कि जैनियों के शास्त्र हिन्दुओं से भिन्न हैं; किन्तु हाईकोर्ट ने उन शास्त्रों के पेश होने के लिए आग्रह नहीं किया और स्वत: उनको नहीं मँगवाया। जिस पक्ष के कथन की पुष्टि हिन्दू शास्त्र से होती थी वह तो अदालत को इस विषय में सहायता देने का प्रयत्न स्वभावत: न करता, और अनुमानत: विरोधी पक्ष को न्यायालयों में पेश करने के लिए कठिनता से प्राप्त होनेवाली हस्त-लिखित जैन ग्रन्थों की प्राप्ति दु:साध्य हुई होगी। खेद है कि आधुनिक न्यायाधीश, पुराने समय के तिरस्कृत "क़ाज़ी" के समान अपना कर्तव्य यह नहीं समझता कि उचित निर्णय करने के लिये सामग्री को संग्रहीत करे; वह कभी कभी उपस्थित सामग्री पर तो अधिक छान-बीन कर डालता है, किन्तु सामग्री उसके समक्ष

संचित करनी ही पड़ती है। पश्चात् के मुक़दमात पर उसके निर्णय की ज्योति का प्रकाश पड़ता है और एक पूर्व निश्चित प्रमाण का उल्लङ्घन कराना किसी प्रकार से भी सहज कार्य नहीं है जैसा कि प्रत्येक वकील जानता है।

जैनियों ने तो मुसलमानों के आते ही दूकान बन्द कर दी और क़रीब क़रीब नाम की तख़्ती भी उठा दी। इन आक्रमण करनेवालों ने जैन धर्म के विरुद्ध ऐसा तीव्र द्वेष किया कि उन्होंने जैन मन्दिरों और शास्त्रों को जहाँ पाया नष्ट कर दिया। साधारणत: लोग जैनियों को नास्तिक समझते थे (यद्यपि यह एक बड़ी भूल थी) और इसी कारण से सम्भवत: उनको मुसलमान आक्रमण करनेवालों के हाथ से इतना कष्ट सहना पड़ा। जो कुछ भी सही, परिणाम यह हुआ कि जैनियों ने अपने शास्त्रभण्डार रक्षार्थ भूगर्भ में छिपा दिये, और वह ग्रन्थ वहाँ पड़े पड़े चूहों और दीमकों का भोज्य बन गये और गलकर धूल हो गये। पिछले दुखद अनुभव का परिणाम यह हुआ कि मुग़ल राज्य के पश्चात् जो विदेशी अधिकार हुआ, जैनी उसकी ओर भी भयभीत होकर तिरछी आँख से देखते रहे, और यह केवल पिछले २० वर्ष की बात है कि जैन-शास्त्र किसी भाषा में प्रकाशित होने लगे हैं। मुझे सन्देह है कि कोई जैनी आज भी एक हस्तलिखित ग्रन्थ को मन्दिरजी में से लेकर अदालत के किसी कर्मचारी को दे दे। कारण कि शास्त्र विनय का उसके मन में बहुत बड़ा प्रभाव है और सर्वज्ञ वचन की अवज्ञा और अविनय से वह भयभीत है। जैन नीतिग्रन्थ ब्राह्मणीय प्रभाव से नितान्त विमुक्त हैं, यद्यपि जैन कभी कभी ब्राह्मणों की अपने शास्त्रों के बाँचने अथवा धार्मिक तथा लौकिक कार्य्यों के लिए सहायता लेते हैं।

मेरी समझ में यह नहीं आता कि इस बात से कि जैनी ब्राह्मणों से काम लेते हैं यह कैसे अनुमान किया जा सकता है कि जैन "हिन्दू डिस्सेंटर्ज़" हैं। क्या ऐसी आशा की जा सकती है कि ऐसे दो समाजों में जो एक ही देश में अज्ञात प्राचीन काल से साथ साथ रहती सहती चली आई हैं, नितान्त पारस्परिक व्यवहार न होंगे। बात यह है कि जैन धर्म का संख्या-वर्धक-क्षेत्र विशेष करके हिन्दू समाज ही रहा है, और गत समय में जैनियों और हिन्दुओं में पारस्परिक विवाह बहुत हुआ करते थे। ऐसे विवाहों से उत्पन्न सन्तान कभी एक धर्म को कभी दूसरे धर्म को मानती थी, और कभी उनके आचार-विचार में दोनों धर्मों के कुछ कुछ सिद्धान्त सम्मिलित रहते थे, और इस कारण से अनभिज्ञ विदेशी तो क्या अल्प-बुद्धि स्वदेशी भी भ्रम में पड़ सकते हैं। इसके अतिरिक्त कहीं कहीं जैन धर्मानुयायी बिलकुल नहीं रहे, किन्तु जैन मन्दिर वहाँ अभी पाये जाते हैं। उन मन्दिरों के दैनिक पूजा-प्रबन्ध के वास्ते ब्राह्मण पुजारी को रखना ही पड़ता है। इन सब बातों से ५०-६० वर्ष पूर्व तो ग़ैरजानकार विदेशी अनभिज्ञ हो सकता था, किन्तु आज-कल के एक भारतीय ग्रन्थकर्त्ता की ऐसी अनभिज्ञता क्षन्तव्य नहीं है। उसको तो अपने विचार प्रकाशित करने के पूर्व इन सब बातों को विशेष करके भले प्रकार अध्ययन करना उचित है।

❀ ❀ ❀ ❀

अब केवल शेष इतना ही रह गया है कि इस नियम की—कि हिन्दू-लॉ जैनियों पर लागू होगा, यदि उनका कोई विशेष रिवाज प्रमाणित न हो—प्रारम्भिक इतिहास की खोज की जावे। महाराजा गोविन्दनाथ राय ब० गुलालचन्द वग़ैरह के मुकदमे का जिसका फ़ैसला सन् १८३३ में प्रेसीडेन्सी सदर कोर्ट बङ्गाल ने किया और

जिसमें जैन-लॉ व जैन शास्त्रों का स्पष्टतया उल्लेख हुआ, पहिले ही हवाला दिया जा चुका है। अनुमानतः यह जैनियों का सबसे पहिला मुक़द्दमा है जो छपा है। मैंने उस मुक़द्दमे पर भी जो बम्बई हाईकोर्ट रिपोर्ट्स की १० वीं जिल्द के सफ़े २४१ से २६७ पर उद्धृत है एक हद तक रायज़नी कर ली है।

मुसम्मात चिम्नी बाई ब० गट्टो बाई का मुक़दमा जिसका फ़ैसला सन् १८५३ ई० में हुआ (नज़ायर्स सदर दीवानी अदालत सूबे जात मग़र्बी व शुमाली ६३६ उल्लिखित ६ एन० डब्ल्यु० पी० हाईकोर्ट रिपोर्ट्स सफ़ा ३९४) इनके पश्चात् हमारी तवज्जह का अधिकारी है। इस मुक़दमे में स्पष्टतया देखा जा सकता है कि जैनियों के हिन्दू डिस्सेण्टर्स (Dissenters) समझे जाने का फल कितना बुरा जैन-लॉ के लिए हुआ। क्योंकि उसमें यह सिद्ध किया गया कि "जैनियों के झगड़ों में जैन-लॉ के निर्णयार्थ अदालत के पण्डित की सम्मति लेने की कोई आवश्यकता नहीं है जब कि एक ऐसे फ़िर्क़े के सिद्धान्त के विषय में जो स्वीकृत रीति से हिन्दू समाज में से निकला (Dissenting sect) है उसकी सम्मति का आदर एक पक्षवाला नहीं करता है, बल्कि मुद्दइया के ऊपर इस बात का भार डालता है कि वह असली मत के क़ानून से अपने फ़िर्क़े की स्वतन्त्रता को जिस प्रकार उससे हो सके प्रमाणित करे। और यह बात अमर वाक़याती है।" इस अन्तिम वाक्य का तात्पर्य यह है कि यदि ज़िले की दोनों अदालतें (इब्तिदाई व अपील) इस विषय में सहमत हों कि मुद्दइया हिन्दू-लॉ से अपने फ़िर्क़े की स्वतन्त्रता के प्रमाणित करने में असमर्थ रही तो हाईकोर्ट ऐसी मुत्तिफ़िक़ तजवीज़ के विरुद्ध कोई उज़्र नहीं सुनेगी। तिस पर भी इस मुक़द्दमे में यह क़रार दिया गया कि जैनियों का यह हक़ है कि "वह अपने ही शास्त्रों के अनुसार

अपने हाथ के झगड़ों का निर्णय करा सकें।" फ़ैसले में यह भी बताया गया है कि "जैनियों के प्रमाणित नीति शास्त्रों के न होने के कारण अदालत इस बात पर बाध्य हुई कि साक्षी के आधार पर झगड़े का निर्णय करे।"

बमुकदमे हुलास राय ब० भवानी जो छापा नहीं गया है और जिसका फ़ैसला ७ नवम्बर सन् १८५४ को हुआ था (इसका हवाला ६ एन० डब्ल्यु० पी० हाईकोर्ट रिपोर्ट्स में पृष्ठ ३८६ पर है) फिर यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि जैनी किस लॉ के पाबन्द हैं। इसकी निस्बत तन्कीहें इन शब्दों में क़ायम की गईं—

"आया श्रावगी क़ौम हिन्दू-लॉ को मानते हैं या नहीं? यदि वे हिन्दू-लॉ के पाबन्द नहीं हैं तो क्या उनका क़ानून विधवा को पति की स्थावर सम्पत्ति में इन्तक़ाल का हक़ देता है? आया श्रावगी क़ौम के नियमों के अनुसार विधवा मालिक कामिल जायदाद की होती है, या उसका हक़ केवल जीवन पर्यन्त ही है?" दौराने मुक़दमे में न्यायाधीश को जैनशास्त्रों के अस्तित्व का समाचार कुछ जैन गवाहों द्वारा, जिनका बयान कमीशन पर दिल्ली में हुआ, मालूम हुआ। मगर हाईकोर्ट में इस शहादत पर आक्षेप किया गया कि गवाहान ने अपने बयान बिना सौगन्द के दिये थे। इसलिए वहाँ से मुक़दमा फिर अदालत इब्तदाई में नये सिरे से सुने जाने के लिए वापिस हुआ। परन्तु अन्ततः पारस्परिक पञ्चायत द्वारा उसका फ़ैसला हो गया। मगर जैन-लॉ के बारे में यह आवश्यकीय बात फ़ैसले में दर्ज है कि "धार्मिक विषयों में श्रावगी लोग अपने ही धर्म शास्त्रों के नियमों पर कार्यबद्ध होते हैं।"

इसके पश्चात् एक मुक़दमा सन् १८६० का है (मुन्नूलाल ब० गोकलप्रसाद जो नज़ायर सदर दीवानी अदालत एन० डब्ल्यु० पी०

सन् १८६० में पृष्ठ २६३ पर प्रकाशित है और जिसका हवाला ६ एन० डब्ल्यु० पी० हाईकोर्ट रिपोर्ट्स पृष्ठ ३८६ पर मिलता है)। इस मुक़दमे में पहिले पहिल यह तै हुआ था कि "श्रावगी फ़रीक़ैन (पक्षियों) के दाय के झगड़े जैन-लॉ के अनुसार तै होने चाहिएँ, जिसका निर्णय श्रेष्ठतम साक्षी से जो प्राप्त हो सके करना चाहिए।" इस आग्रह के साथ यह मुक़दमा अदालत अव्वल में नये सिरे से सुने जाने के लिए वापिस हुआ। जब फिर यह मुक़दमा हाईकोर्ट में पहुँचा तो वहाँ पर हर दो पक्षियों की ओर से यह मान लिया गया कि "श्रावगियों की क़ौम के कोई धार्मिक या नीति के शास्त्र नहीं हैं जिनके अनुसार इस प्रकार के विषयों का निर्णय पूर्ण रीति से हो सके।"

खेद ! जैन शास्त्रों की दशा पर ! जैनियों के अपने शास्त्रों के छिपा डालने के स्वभाव की बदौलत हिन्दू वकील जो मुक़दमें में पैरवी करते थे जैन शात्रों के अस्तित्व से नितान्त ही अनभिज्ञ निकले। और तिस पर भी जैनियों की घोर निद्रा न खुली !

इसके पश्चात् बिहारीलाल ब० सुखवासीलाल का मुक़दमा जो सन् १८६५ ई० में फ़ैसल हुआ ध्यान देने योग्य है। इस मुक़दमे में यह तय हुआ कि "जैन लोगों के ख़ानदान हिन्दू शास्त्रों के पाबन्द नहीं हैं।" पश्चात् के मुक़दमे शम्भूनाथ ब० ज्ञानचन्द (१६ इलाहाबाद० ३७६—३८३) में इस निर्णय का अर्थ यह लगाया गया कि यह परिणाम माननीय होगा यदि कोई रिवाज साधारण शास्त्र अर्थात् क़ानून को स्पष्टतया तरमीम करता हुआ पाया जावे। परन्तु जहाँ ऐसा रिवाज नहीं है वहाँ हिन्दू-लॉ के नियम लागू होंगे।

इसके पश्चात् का मुक़दमा बङ्गाल का है (प्रेमचन्द पेपारा ब० हुलासचन्द पेपारा—१२ वीक्ली रिपोर्टर पृष्ठ ४६४)। इस मुक़द्दमे की तजवीज़ में भी जैन शास्त्रों का उल्लेख है और अदालत

ने तजवीज़ फ़रमाया है कि "न तो हिन्दू-लॉ में और न जैन शास्त्रों ही में कोई ऐसा नियम पाया जाता है कि जिसके अनुसार पिता अपने वय:प्राप्त (बालिग़) पुत्रों की परवरिश करने के लिए बाध्य कहा जा सके।" निस्सन्देह यह नितान्त वही दशा नहीं है कि जहाँ एक सीधे (Affirmative) रूप में किसी बातका अस्तित्व दिखाया जावे, अर्थात् यह कि फ़लाँ शास्त्र में फ़लाँ नियम उल्लिखित है। परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि अदालत ने यह नहीं फ़रमाया कि जैनियों का कोई शास्त्र नहीं है और न यह कि जैनी लोग हिन्दु-लॉ के पाबन्द हैं।

सन् १८७३ ई० में हमको फिर हीरालाल ब० मोहन ब मु० भैरो के मुक़दमे में (जो छापा नहीं गया, परन्तु जिसका हवाला ६—एन० डब्ल्यु० पी० हाईकोर्ट रिपोर्ट्स पृष्ठ ३६८—४०० पर दिया गया है) जैन-ला का पृथक् रूप से अस्तित्व मिलता है। इसको अदालत अपील ज़िला ने स्वीकार किया और इसकी निस्बत इन शब्दों में अपना फ़ैसला फ़रमाया कि "मुक़दमा का निर्णय जैनी लोगों के क़ानून से होगा। हिन्दू ला की जैनियों पर इससे अधिक पाबन्दी नहीं हो सकती जितनी योरोपियन ख़ुदापरस्तों पर हो सकती है।" मगर हाईकोर्ट में घटनाओं ने अपना रूप बदला। बुद्धिमान् जज महोदयों ने अपनी तजवीज़ में लिखा है कि "अपीलान्ट की ओर से यह बहस नहीं की जाती है कि हिन्दू-लॉ बहैसियत हिन्दू-लॉ के जैनियों से सम्बन्धित है। परन्तु उनकी यह बहस है कि हिन्दू-लॉ और जैन-लॉ में इस विषय की निस्बत कोई अन्तर नहीं है कि विधवा किस प्रकार का अधिकार पति की सम्पत्ति में पाती है।" अन्ततः अदालत मातहत को कतिपय तनकीहें वापस हुई जिनमें एक तनक़ीह यह भी थी कि जैन-लॉ के अनुसार

विधवा किस प्रकार का अधिकार रखती है। अदालत अपील ज़िला ने फिर यही तजवीज़ फ़रमाया कि जैन-विधवा मालिक कामिल बअख़्तियार इन्तक़ाल होती है। जैन मुद्दई ने यहाँ भी यही शहादत पेश की थी कि हिन्दू-लॉ मुक़दमे से सम्बन्धित है। परन्तु जज महोदय ने इस पर यह फ़ैसला फ़रमाया कि "इन गवाहों ने जिरह में इस बात को स्वीकार किया है कि वह कोई उदाहरण नहीं बता सकते हैं कि जहाँ हिन्दू-लॉ के अनुसार निर्णय किया गया हो और कारण वश उनको यह मानना पड़ा कि ऐसे उदाहरण उनको मालूम हैं कि जहाँ पर हिन्दू-लॉ की पाबन्दी नहीं हुई।" आगे अपील होने पर हाईकोर्ट ने निर्णय फ़रमाया कि इस बात के प्रमाणित करने के लिए कि जैनियों के लिए हिन्दू-लॉ से पृथकता करनी चाहिए शहादत अपर्याप्त है। और जैन-विधवा के अधिकार हिन्दू-विधवा से विरुद्ध नहीं हैं। हाईकोर्ट ने वाक़यात पर भी जज से असम्मति प्रकट की और अपील डिगरी कर दिया।

यह मुक़दमा एक उदाहरण है उस दिक़्क़त का जो एक पक्षी को उठानी पड़ती है जब वह किसी रिवाज के प्रमाणित करने के लिए विवश होता है। इस प्रकार का एक और मुक़दमा छज्जूमल ब० कुन्दनलाल (पंजाब) ७० इन्डियन केसेज़ पृष्ठ ८३८ पर मिलता है। यह १९२२ ई० का है। आज कुछ भी सन्देह जैन-विधवा के अधिकारों की निस्बत नहीं है और सब अदालतें इस बात पर सहमत हैं कि वह मालिक कामिल बअख़्तियार इन्तक़ाल होती है। मगर खेद! कि जो शहादत मुद्दाले ने मुक़दमा ज़ेरबहस (हीरालाल ब० मोहन व मु० भैरो) में पेश की थी वह अपर्याप्त पाई गई यद्यपि उसमें कुछ उदाहरण भी दिये गये थे और उनके विरोध में कोई भी उदाहरण नहीं था।

यह दशा वातावरण की थी और यह सूरत क़ानून की उस समय जब कि सन् १८७८ ई० में प्रीवी कौंसिल के समक्ष यह विषय शिवसिंह राय ब० मु० दाखो के प्रसिद्ध मुक़दमे के अपील में निर्णयार्थ पेश हुआ (मुक़दमा की रिपोर्ट १ इलाहाबाद पृष्ठ ६८८ व पश्चात् के पृष्ठों पर है)। अब यह मुक़दमा एक प्रमाणित नज़ीर है जैसा कि प्रीवी कौंसिल के सब मुक़दमात उचित रीति से होते हैं। मुक़दमा मेरठ के ज़िले में लड़ा था और अपील सीधी इलाहाबाद हाईकोर्ट में हुई थी। हाईकोर्ट की तजवीज़ छठी जिल्द एन० डब्ल्यु० पी० हाईकोर्ट रिपोर्ट्स में ३८२ से ४१२ पृष्ठों पर उल्लिखित है। मुद्दइया का जो एक जैन-विधवा थी दावा था कि वह अपने पति की सम्पत्ति की पूर्णतया अधिकारिणी है और उसको बिना आज्ञा व सम्मति किसी व्यक्ति के दत्तक लेने का अधिकार प्राप्त है। जवाब दावा में इन बातों से इन्कार किया गया था और यह उज्र उठाया गया था कि जैन लोगों का क़ानून उस नीति शास्त्र से जो हिन्दू-लॉ के नाम से विदित है विभिन्न नहीं है। पहिले एक केवल क़ानूनी दोष के कारण दावा अदालत अव्वल में ख़ारिज हुआ मगर अपील होने पर हाईकोर्ट से पुनः निर्णय के लिए वापस हुआ। हाईकोर्ट से दोनों पक्षियों के वकीलों ने प्रार्थना की थी कि वह उचित हिदायात मुक़दमा के निर्णयार्थ अदालत इब्तदाई को करे, और बुद्धिमान् जज महोदयों ने इन हिदायात के दौरान में फ़रमाया कि "जैनियों का कोई लिखा हुआ क़ानून दाय का नहीं है" और उनके क़ानून का पता केवल रिवाजों के एकत्रित करने से जो उनमें प्रचलित हों लग सकता है। जज मातहत महोदय ने इन हिदायतों पर पूरा-पूरा अमल किया, और बड़ी जाँच के पश्चात् दावा को डिग्री किया। अपील में हाईकोर्ट ने ब्यौरेवार और मेहनत के

साथ कुल नज़ीरों का निरीक्षण किया और अपना हुक्म सुनाया। और शायद उस दशा में जिसमें मुकदमा लड़ा था और कोई हुक्म सम्भव न था। हम एकदम यह कह सकते हैं कि निर्णय जैननीति नियमों के अनुसार है और इसकी अपेक्षा किसी को आक्षेप का अवसर नहीं मिल सकता है। परन्तु आवश्यकीय ध्यान देने योग्य बातें इस फ़ैसले की युक्तियाँ हैं और यह कि इसका जैन-लॉ के अस्तित्व व उसकी स्वतन्त्रता के विषय में क्या प्रभाव पड़ा, और आगामी समय में पड़ने का गुमान हो सकता है। इस फ़ैसले में दो भारी ग़ल्तियाँ वाक़यात की हाईकोर्ट ने की हैं। पहिली तो यह कल्पना है कि "ग्यारह बारह शताब्दियों से अधिक से जैनी लोग वेदों के मत से पृथक् हो गये।" जो प्रारम्भिक योरोपियन खोजियों की जल्दबाज़ी का परिणाम है, और जिनकी सम्मति से अब भारतीय खोज का प्रत्येक सच्चा जानकार असहमत होता है (देखो इन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलीजन व ईथिक्स जिल्द ७ पृष्ठ ४६५)। यह ग़लत राय भगवानदास तेजमल ब० राजमल (१० बम्बई हाईकोर्ट रिपोर्ट्स पृष्ठ २४१) के मुक़दमे में एलिफस्टन की हिस्ट्री और कुछ अन्य युक्तियों के आधार पर मान ली गई थी और पश्चात् के कुछ मुक़दमात में दोहराई भी गई थी। मुख्य अंश इस ग़ल्ती का यह है कि जैन मज़हब ईस्वी संवत् की छठी शताब्दी में बुद्ध मत की शाखा के तौर पर प्रारम्भ हुआ और बारहवीं शताब्दी में उसका पतन हुआ। परन्तु जैसा कि पहिले कहा गया है आज यह बात नितान्त निर्मूल मानी जाती है।

दूसरी ग़लती जो इस तजवीज़ में हुई वह यह है कि जैनियों के कोई शास्त्र नहीं हैं। आज हम इस प्रकार की व्याख्या पर केवल हँस पड़ेंगे। पचास वर्ष हुए जब कदाचित् इसके लिए कुछ मौक़ा

हो सकता था, यदि कुछ शास्त्रों के नाम किन्हीं मुक़दमात में न ले दिये गये होते। इससे अदालत के दिल में रुकावट होनी चाहिए थी। तो भी यह कहना आवश्यकीय है कि बुद्धिमान् जज महोदयों ने पूरी पूरी छान-बीन की कोशिश की थी और तिस पर भी यदि जैन-लॉ अप्राप्त रूप से ही विख्यात रहा तो ऐसी दशा में यह आशा नहीं की जा सकती है कि वे बिला लिहाज़ समय के उसके उपलब्ध की प्रतीक्षा करते रहते! स्वयं जैनियों को अन्याय का बोझ अपने कन्धों पर उठाना चाहिए। यह नहीं भूलना चाहिए कि तीसरी तनक़ीह जो इस मुक़दमे में हुई थी इन शब्दों में थी। "जैनी लोग किस शास्त्र या टेक्स्ट बुक (Text-book) के पाबन्द हैं?" इस तनक़ीह के अन्तर्गत हर दो पक्षवालों को सुअवसर प्राप्त था कि वह जैन-लॉ का अस्तित्व आसानी से प्रमाणित कर सकें। परन्तु एक पक्ष को तो प्रलोभन ने अन्धा बना दिया था, और दूसरे को उन कुल बाधाओं का सामना करना पड़ता था जिन्होंने अभी तक पूर्णतया जैन शास्त्रों को अदालतों में पेश होने से रोक रक्खा है।

प्रीवी कौंसिल में बुद्धिमान् बैरिस्टरों से, जिन्होंने मुक़दमा की पैरवी की, यह आशा नहीं हो सकती थी कि वे जैन-लॉ के अस्तित्व के बारे में अधिक जानकारी रखते होंगे। और रेस्पान्डेन्ट के कौंसिल के हक़ में तो हिन्दुस्तान की दोनों अदालतों की तजवीजें सहमत थीं फिर वह क्यों जैन-लॉ की सहायता को अपने प्राकृतिक कर्तव्य के विरुद्ध चलकर आता। रहा अपीलाण्ट का कौंसिल। मगर उसके लिये बयान तहरीरी के विरुद्ध जैन-लॉ के अस्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता की घोषणा करना अपने मवक्किल के अभिप्रायों की विरुद्धता करना होता। इस दशा में बहस मुख्यतः किन्हीं किन्हीं क़ानूनी नियमों पर होती रही जिनका सम्बन्ध रिवाज से है और

शहादत की तुलना से जिससे रिवाज प्रमाणित किया जाता है। तो भी प्रीवी कौंसिल के लाट महोदयों ने कुछ बड़े गम्भीर जुमले इस सिलसिले में लिखे हैं कि जैनियों का अधिकार है कि वह अपनी ही नीति व रिवाजों के अनुसार कार्यबद्ध हों। पृष्ठ ७०२ पर वह फ़रमाते हैं—

"उन्होंने (हाईकोर्ट के जजों ने) भूतपूर्व नज़ीरों के अध्ययन से यह परिणाम निकाला कि वह इस परिणाम के विरुद्ध नहीं थे कि किन्हीं किन्हीं विषयों में जैनी लोग मुख्य रिवाज व नीतियों के बद्ध हों, और यह कि जब यह निश्चयात्मक ढङ्ग से प्रमाणित हो जावें तो उनको लागू करना चाहिए। अपीलान्ट के सुयोग्य कौंसिल ने जिसने इस मुक़दमा की बहस प्रीवी कौंसिल के लाट महोदयों के समक्ष की इस परिणाम की सत्यता में किसी प्रकार का विवाद उठाने के योग्य अपने को नहीं पाया। यह अवश्य आश्चर्यजनक होता यदि ऐसा पाया जाता कि हिन्दुस्तान में जहाँ बृटिश गवर्नमेंट की न्याय युक्ति में कि जिसके अनुसार सार्वजनिक ढङ्ग से साधारण क़ानून से चाहे वह हिन्दुओं का हो या मुसलमानों का एक बृहत् प्रथकत्व की गुञ्जाइश रक्खी गई है अदालतों ने जैनियों की बड़ी और धनिक समाज को अपने मुख्य नियमों और रिवाजों के अनुसरण करने से रोक दिया हो, जब कि यह नियम व रिवाज यथेष्ट साक्षी के आधार पर पेश किये जा सकते हों और उचित रीति से बयान किये जा सकें, और सार्वजनिक सम्मति अथवा किसी अन्य कारणों से आक्षेप के योग्य नहीं।"

इस प्रकार यह मुक़दमा निर्णय हुआ जो उस समय से बराबर नज़ीर के तौर पर प्रत्येक अवसर में हिन्दुस्तानी अदालतों में जहाँ जैनी वादी प्रतिवादी में यह प्रश्न उपन्न होता है कि वह किस क़ानून से बद्ध हैं पेश होता है। यह कहना आवश्यकीय नहीं है कि प्रीवी कौंसिल के फ़ैसले उच्चतम कोटि के प्रमाणित नज़ायर होते हैं जो निःसन्देह उनके लिए उचित मान है, इस अपेक्षा से कि वह एक ऐसे बोर्ड (अदालत) के परिणाम होते हैं कि जिसमें संसार के योग्यतम न्यायविज्ञ व्यक्तियों में से कुछ न्यायाधीश होते हैं। और

यह भी कहना अनावश्यकीय है कि प्रीवी कौंसिल के लाट महोदय जो युक्तियों के वास्तविक गुणों के समझने में कभी शिथिल नहीं प्रमाणित हुए हैं आगामी काल में पूर्णतया उन नये और विशेष हालात (घटनाओं) पर जो शिवसिंह राय ब० मु० दावो के फ़ैसले की तिथि के पश्चात् से हस्तगत या प्रमाणित हुए हैं, विचार करेंगे जब कभी यह नवीन सामग्री उनके समक्ष नीति व नियमों के क्रम में नियमानुसार पेश होगी।

संक्षेपतः यह राय कि जैनी हिन्दू-लॉ के अनुयायी हैं इस कल्पना पर निर्धारित है कि जैनी हिन्दू मत से विभिन्न होकर पृथक् हुए हैं। मगर यह कल्पना स्वयं किस आधार पर निर्धारित है? केवल प्रारम्भिक अर्ध योग्यता प्राप्त योरोपियन खोजियों के भूलपूर्ण विचार के हृदय में बने रहनेवाले प्रभाव पर, और इससे न न्यून पर न अधिक पर कि जैनियों का छठी शताब्दी ईस्वी सन् में आरम्भ हुआ जब कि बुद्ध मत का पतन प्रारम्भ हो गया था और जब प्रचलित धर्म हिन्दू मत था। अब यह ग़लती दूर हो गई है। जाकोबी आदि पूर्वी शास्त्रों के खोजी अब जैन मत को २७०० वर्ष से अधिक आयु का मानते हैं परन्तु अभी तक जैनी Dissentership (धर्मच्युत विभिन्न शाखा होनेवाले स्वरूप) से मुक्त नहीं हुए हैं। यदि बुद्ध मत की शाखा नहीं तो तुम हिन्दू मत से मतभेद करके प्रादुर्भाव होनेवाले तो हो सकते ही हो! यह वर्तमान काल के योग्य पुरुषों की सम्मति है। इस सम्मति के अनुमोदन में प्रमाण क्या है? मगर हाँ बुद्धिमान् की सम्मति के लिए प्रमाण की आवश्यकता ही क्या है? आन्तरिक साक्षी पूर्णतः इसके विरुद्ध है और वास्तव में एक ऐसे बुद्धिमान् की सम्मति को अनुमोदन में लिये हुए है जिसने वर्षों की छानबीन के पश्चात् सच्ची आश्चर्यजनक

बात को ढूँढ़ निकाला (देखो शोर्ट स्टडीज़ इन दी साइन्स ओफ़ कम्पेरेटिव रेलीजन) *

जैन मत और हिन्दू मत के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में तीन बातें संभव हो सकती हैं अर्थात्—

(१) जैन मत हिन्दू मत का बच्चा है।

(२) हिन्दू मत जैन मत का बच्चा है।

(३) दोनों तत्कालीन भिन्न धर्म हैं जो साथ साथ चलते रहे हैं जिनमें से कोई भी दूसरे से नहीं निकला है।

इनमें से (१) केवल कल्पना है और उसके अनुमोदन में कोई आन्तरिक या बाह्य साक्षी नहीं है। (२) आन्तरिक साक्षी पर निर्धारित और इस बात पर स्थिर है कि वेदों का वास्तविक भाव अलङ्कारयुक्त है। और (३) वह आवश्यक परिणाम है जो उस दशा में निकलेगा जब किसी प्रबल युक्ति के कारण यह न माना जावे कि हिन्दू शास्त्रों के भाव अलङ्कारयुक्त हैं। दुर्भाग्यवश आधुनिक खोजी हिन्दू शास्त्रों के अलङ्कारिक भाव से नितान्त ही अनभिज्ञ रहे और उनको वेदों के वास्तविक भाव का पता ही नहीं लगा। परन्तु इस विषय का निर्णय कुछ पुस्तकों में, जिनका पूर्व उल्लेख किया जा चुका है, किया गया है (देखो मुख्यतः दि की ऑफ़ नॉलेज व प्रैक्टिकल पाथ और कोन्फ्लुएन्स ऑफ़ ओपोज़िट्स)। परन्तु

* डा० हर्मन जाकोबी साहब ने कांग्रेस आफ़ दी हिस्ट्री ऑफ़ ओल रिलीजन्ज़ (सर्वधर्मों के इतिहास की कांग्रेस) के समक्ष जैनमत के विषय में निम्नलिखित वाक्य कहे—"अन्त में मुझे अपने विश्वास को प्रकट करने दीजिए कि जैन धर्म एक स्वाधीन मत है, जो अन्य मत मतान्तरों से नितान्त भिन्न और स्वतन्त्र है। और इसलिए वह भारतवर्ष के दार्शनिक विचार और धार्मिक जीवन के समझने में अत्यन्त उपयोगी है।" (जैनगज़ट [अँगरेज़ी] सन् १९२७ पृ० १०४)—अनुवादक।

यदि हम इस अलङ्कारयुक्त भाव की ओर दृष्टि न करें तो हिन्दू मत और जैन मत का किसी बात पर भी, जो वास्तविक धर्म सिद्धांतों से सम्बन्ध रखती हो, सहयोग नहीं मिलेगा और दोनों विभिन्न और पृथक् होकर बहनेवाली सरिताओं की भाँति पाये जावेंगे, यदि एक ही प्रकार के सामाजिक सभ्यता और जीवन का ढङ्ग दोनों में पाया जावे।

अब जैन-लॉ की सुनिए ! ये शास्त्र, जो एकत्रित किये गये हैं, जाली नहीं हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख भी आरम्भ के दो एक मुक़दमों में आया है, यद्यपि इसमें न्यायालयों का कोई दोष नहीं है यदि उनका अस्तित्व अब तक स्वीकार नहीं हो पाया है। जैनियों ने भी अपने धर्म को नहीं छोड़ा है और न हिन्दू मत को या हिन्दू-लॉ को स्वीकृत किया है। बृटिश ऐडमिन्स्ट्रेशन की वह निष्पक्ष पालिसी, कि सब जातियाँ और धर्म अपनी अपनी नीतियों के ही बद्ध हों, जिसका वर्णन सर मोन्टेगो स्मिथ ने प्री० कौं० के निर्णय में (व मुक़दमा शिवसिंहराय ब० मु० दाखो) किया अभी तक न्यायालयों का उद्देश्य है। तो क्या यह आशा करना कि शीघ्र से शीघ्र उस बड़ी भूल के दूर करने के निमित्त, जो न्याय और नीति के नाम से अनजान दशा में हो गई, सुअवसर का लाभ उठाया जावेगा निरर्थक है ?